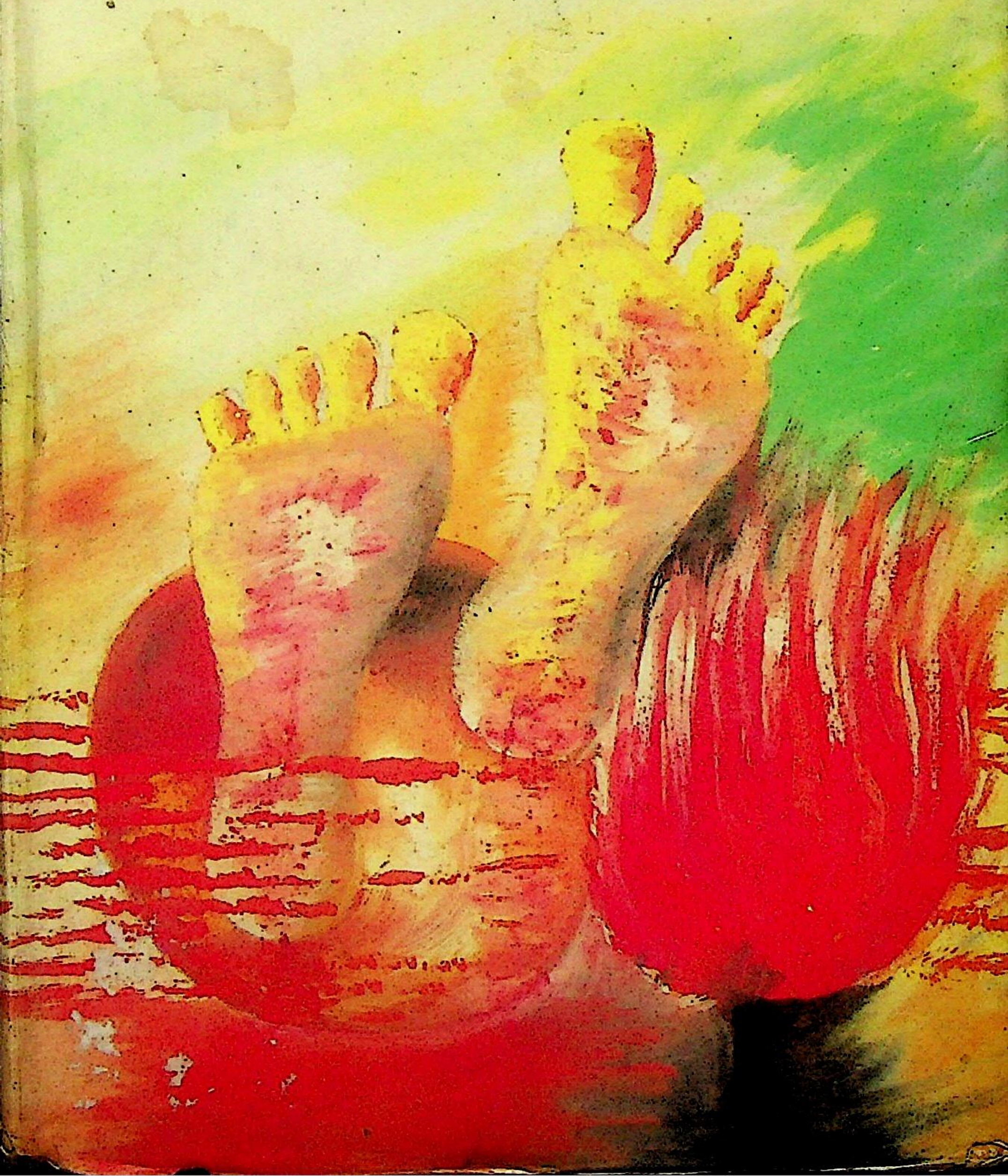
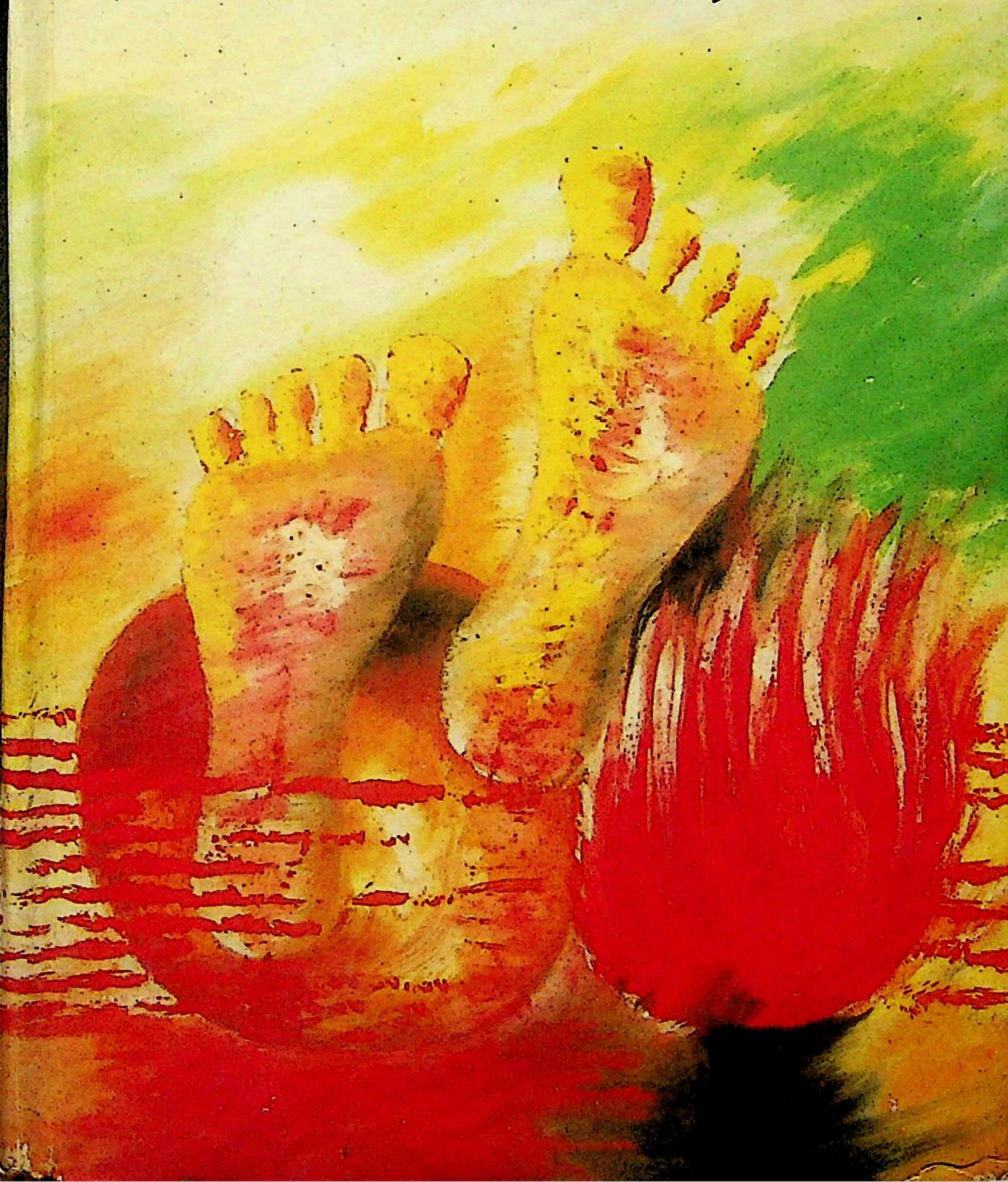
मेरी भावयात्रा

भागवत झा आज़ाद



मेरी भावयात्रा

भागवत झा आज़ाद



मेरी भावयात्रा



वाणी प्रकाशन

नई दिल्ली-110002

मेरी भावयात्रा

भागवत झा आजाद

ISBN 81-7055-178-1

वाणी प्रकाशन
4697/5, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-2
द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण 1989

मूल्य : 95.00 रुपये
आवरण : चेतन दास

शान प्रिंटर्स
रोहतास नगर, शाहदरा, दिल्ली-32
द्वारा मुद्रित

MERI BHAV YATRA
(A Collection of Essays)
By Bhagwat Jha Azad

लोकतंत्र के प्रकाश-पुंज, सर्वधर्म-संभाव के उद्घोषक,

भारतीय संसद की दलहीज पर मेरे खुरदरे मन-प्राण-पाँवों को

संबल देने वाले उस अनूठे नेता

जवाहरलाल की पुण्य-स्मृति को

शताब्दी वर्ष में समर्पित

मेरी बात

'मेरी भावयात्रा' में मुझे बहुत-से पड़ाव मिले हैं—अनबूझे, सुखद, दर्दीले आवेगों से सराबोर। आज जब उन्हें सहलाने-दुलराने बैठा हूँ तो मानस-पटल पर सावनी समाँ बन वे छा जाते हैं। मगर अपनी तीव्रता, मादकता और बहाव की मदहोशी में कागज की जमीन पर वे उतरना नहीं चाहते। 'मेरी भाव यात्रा' के प्रत्येक खंड के हरेक स्मृति-स्थान, संज्ञा और सत्पुरुष के लम्बे सफर की केवल कुछ झलकें हैं। संवेदनशील पाठकों से मैं उन पर ज्ञान-विज्ञान, कला-संस्कृति आदि की अपनी कल्पना-तूलिका लगाने-चलाने का आग्रह करता हूँ। जो चित्र उभर आयें, जो भाव प्रतिबिंबित हों, वे सब मेरे हैं, क्योंकि मानव-हृदय के अछूते शालीन-सौन्दर्य विश्व-नियंता की प्रतिमूर्ति बनकर ही जीवंत रहते हैं। मनुष्य के मन की असत् भावनाएँ जब उन पर अपना रंग चढ़ाना चाहती हैं तभी असफल होने पर ही मनु का पतन होता है और जीत हासिल करने पर दुंदुभी और नगाड़े बजते हैं।

'मेरी भावयात्रा' के कुछ प्रमुख प्रेरक तीर्थ हैं। इनसे होकर

मैं बढ़ा-बना हूँ। बिहार के पूर्वांचल में अवस्थित एक छोटा-सा कसबा—संज्ञा और धर्म—दोनों में एक-सा। बगल में बहती पहाड़ी नदी—दामिनी (ढोलिया)। आसपास संथालों के गाँव। नदी के जल में बेपरवाह स्नान करती सम्पुष्ट-यौवनाएँ। कहीं दूर से आते उनके नाच-गान पर थिरकते वंशी के विकल स्वर और मादल के मदहोश ताल। फिर अपने छोटे से गाँव के आस-पास के धान-खलिहान, बाग-बगीचे, ईख-अरहर के खेत। सम्पूर्ण परिवेश ने मिलकर मेरे अवचेतन-अचेतन में धरती माता से अटूट लगाव स्थापित कर दिया। इसी घर-ननिहाल से तिरस्कृत हो बनवास के चौदह वर्ष मैंने उसकी गोद में पल-छिन की तरह बिता दिये।

उक्त क्रम में मेरा दूसरा तीर्थ रहा—अंग। मेरी शिक्षा-दीक्षा और आगत-अनागत की निर्माण-स्थली। चम्पानगरी-भागलपुर। अधिरथ को यहीं माँ-गंगा ने वरदपुत्र कर्ण का उपहार दिया था। कर्णगढ़। ऐतिहासिक तपोभूमि। घण्टों, दिवसों, महीनों, वर्षों, मेरी भावयात्रा घूमती रही कर्णगढ़ के भूले-बिसरे इतिहास-पुरुष कर्ण के पद-चिह्नों पर, श्रवण करते रहे मेरे कान उनके अशेष पदचापों को। और एक दिन आया वह 9 अगस्त। लाजपत पार्क भरा था—जन समूहों से। स्वतंत्रता-संग्राम की अलवेली क्रांति बलिदान माँगती घूम रही थी। एक छोटी-सी तुच्छ भेंट मैंने भी डरते-डरते समर्पित की थी। ब्रिटिश संगीन से निकली गोलियाँ। चिरंजीव झा और गणेश मंडल ने अपने तप्त शोणित से अर्घ्य दिया था भारत-माता को प्राण की आहुति देकर। मैं अभागा रहा। गोली पैर को चूमती हुई पार हो गयी। संभवतः छोड़ गयी मुझे आपको यह कथा सुनाने को। जेल के सींखचे। भागलपुर तथा पटना कैम्प जेल के वार्डरों की कभी चीखती—कभी चुभती आवाज। और वह प्रेम-पत्र :

भूल भूल हे प्रिय भूल जा, मैंने कारागार बसाया,
एक नहीं उजड़ा घर तेरा लाखों घर के दीप बुझाया।
अरी सुहागिन! मत रो, मैंने भारत माँ का दूध सजाया,
भूल, भूल री हमें भूल जा, लाखों माँ ने लाल लुटाया।

अंग्रेजो भारत छोड़ो—इनक्लाब—जिन्दाबाद का सपना साकार हुआ। आजादी आयी शहादत का ताज पहन कर। पूरब के आकाश में नये स्वर्णिम विहान का उदय हुआ। जेल की सलाखें कहीं तोड़ दी गई और बहुत जगहों पर वे कुर्बानियों के अंगारों में पिघल गईं। मैं बाहर अचम्भित खड़ा था भागलपुर की सड़क पर। अचानक जलजला आया—मुहब्बत और अपनत्व का। भाव-विभोर हो मैं उसमें समा गया। भागलपुर की जनता ने मुझे सर-आँखों पर उठा लिया। मैं आज जो हूँ, जैसा हूँ, उनके स्नेह, विश्वास, भरोसा और आशीष के फलस्वरूप हूँ। प्रेम का पाथेय देकर उन्होंने मुझे 'मेरी भावयात्रा' की राह के शेष पड़ाव की ओर

रवाना कर दिया। तब से चलता रहा हूँ। राह में मीर कासिम, वीरवर कुंवरसिंह, शेरशाह, भगवान विश्वनाथ, वाजिद अली शाह और मंगल पांडेय ने ढाँढ़स तथा सहारा लेकर मुझे राजघाट तक पहुँचा दिया। बापू की समाधि पर सर नवाकर पहुँच गया, यात्रा के अद्यतन पड़ाव दिल्ली महानगरी में। लगभग तीन दशकों तक की मेरी राजनीतिक और सांस्कृतिक जिन्दगी के लम्हे कालचक्र के साक्षी इसी हस्तिनापुर में, शान-शौकत की दीवानी दिल्ली में और देश की नियति की बाग-डोर थामने वाली नयी दिल्ली में गुजरे हैं। दिल्ली में मैंने समाजवाद और सिण्डीकेट के जय-पराजय, यंग टर्क और सामन्तवादियों के अन्तःसंघर्ष और एक-से एक बहुमूल्य प्रतिभाओं का निर्माण और भंजन देखा है। सृजन तथा संहार की अनगिनत लीलाओं में मैं कुछ का द्रष्टा और कुछ का जीवंत अंश रहकर भी कैसे अक्षत और अछूता रह गया—इसका कारण आप स्वयं ढूंढें तो अच्छा।

इस प्रकार मेरे मानस में रचनात्मकता की जिस मान्य पद्धति से देश-काल के जो संदर्भ अपनी पहचान, अस्मिता, मधुरता-तिक्तता, आवेग-संवेग आदि छोड़ गये हैं, उन्हीं के स्मृत आस्वाद क्षणों को 'भावयात्रा' कहकर आप सभी उदार सहयात्री बन्धुओं के समक्ष मैं विनम्रतापूर्वक प्रस्तुत करता हूँ।

अपनी इस भावयात्रा की खूबियों से अधिक खामियों का मुझे अहसास है। मेरे भाव-कल्प न महान् हैं, न अद्वितीय और न पूर्ण ही। मगर वे मिट्टी से उपजे हैं, उससे जुड़े हैं और उनमें मिट्टी की सौंधी सुगन्ध है। इसलिए रचना-मात्र की प्रकृति के अनुरूप 'मेरी भावयात्रा' के सृजन भी न तो बड़े हैं और न छोटे। इतना जरूर है कि ये सभी मेरी अक्षय ममता के पात्र है और स्वभावतः आप सभी सुधीजनों के आन्तरिक स्नेह के आकांक्षी भी।

इस रचना की प्रस्तुति के प्रसंग में मैं तीसरी कक्षा के अपने साथी राधे मिस्त्री, सातवीं के सहपाठी नन्दलाल, ग्यारहवीं के दोस्त केशव और विश्वविद्यालय के मित्रवर गिरी ठाकुर को याद करता हूँ, जो उन अनेक अज्ञात-नाम-गोत्र सहयात्रियों के प्रतीक हैं, जो साथ चले हँसते-गाते हुए और मुझे इस मुकाम पर पहुँचाने के क्रम में उनमें से कुछ पीछे छूट गये और कुछ तो जान-बूझकर विरम गये।

और, उस परिवेश को कैसे भूला दूँ? जन्मभूमि कसबा, ननिहाल सरभंगा, महगामा माध्यमिक विद्यालय, टी० एन० बी० कॉलेजियट स्कूल, टी० एन० बी० कॉलेज, पटना कॉलेज, भागलपुर केन्द्रीय जेल, पटना कैम्प जेल, संसद-भवन तथा उसके केन्द्रीय कक्ष और दिल्ली की रूमानियत के क्या कहूँ? इन्होंने मुझे साजा-सँवारा। प्रातःस्मरणीया स्व० माँ, बड़े मामा स्व० सुन्दरलाल झा, स्व० अग्रज कपिलेश्वर झा और उन अनेक उस पार—इस पार के किसी-न-किसी रूप से जुड़े आत्मीयजनों को क्या कहूँ? माँ! सब कुछ तुम्हारा। मामा, प्रारम्भिक शौर्य और सौन्दर्य दिया आपने। भैया! आपके हिस्से की सूखी रोटी का टुकड़ा याद है मुझको।

परिवार के त्रयपुत्र—राज, यशो, कीर्ति, वधुएँ—शीला, नलिनी, पूनम और उनके बाल-गोपाल—वैशाली, मिथिला, शौर्य, अनित और विजय के अविचल प्यार ही तो मेरे पाथेय रहे हैं। और सहधर्मिणी इंदिरा—तुम्हें क्या कहूँ ? न तुम प्रेरित करतीं और न मैं भावयात्रा पर निकलने का साहस करता। पूर्ण समर्पण की इस देवी को अपने भाव-सुमन ही क्यों न दूं !

रचना-प्रस्तुति की यात्रा में मैं आत्मीय स्व० डा० लक्ष्मीनारायण लाल, मित्रवर डा० धर्मवीर भारती, स्नेही डा० शिवसागर मिश्र और प्राध्यापक मित्र प्रो० शशिशेखर तिवारी का कृतज्ञ हूँ, जिनकी शुभकामनाओं ने मुझे बल दिया आगे बढ़ते जाने का।

अभी भी अपनी अशेष, अव्यय और अनन्त भावयात्रा के पथ पर चल रहा हूँ और चलता ही रहूँगा। सुधी पाठकगण ! आइए, चलिए मेरे साथ, सहारा मिल जायेगा मुझको। और तब :

नव जीवन मिल जायेगा फिर,
नई कहानी पुनः लिखूँगा
नए विजन में।
पुनः सृजन के
नए बीज बोऊँगा मैं फिर
नव जीवन के।

भगवती शरण मिश्र

विषय-सूची

खंड : क

साहित्य

एक

साहित्य : जनमानसगंगा

साहित्य साधना के विभिन्न मार्ग हैं। एक है—कर्मकांड। साहित्य-सभा का आयोजन करना, ग्रंथावली का संपादन करना, पत्र-पत्रिकाएँ निकालना आदि साहित्य साधना के कर्मकांड हैं। दरअसल ये सभी हमारे भावबोध के कार्यात्मक विनियोग हैं। जो लोग इस मार्ग से परिचित हैं, वे जानते हैं कि कैसे स्वच्छन्द भाव से साहित्य का काम चलाना पड़ता है। साहित्य साधना का दूसरा मार्ग है—ज्ञानकांड। इतिहास, धर्म-दर्शन, समाज, समस्त भौतिक जगत और यहाँ तक कि काव्य-सृजन का विवेचन करना उक्त साधना के ज्ञानकांड माने जा सकते हैं। इस ज्ञान-कांड के बाद साहित्य साधना का वह असली मार्ग है जिसे लोकमंगल कांड की संज्ञा दी जा सकती है। इसकी उपमा तुलसीदास जी ने 'सुरसरि' से दी है :

कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥

यह सुरसरि एक अबाध, पवित्र धारा है। इसका मूल स्रोत हिमालय है। यह तपस्विनी है। यह मानसगंगा है। इसके आदि में तप है, मध्य

में शिव है, अंत में जनहित है। जिसमें सबका हित हो, वही असली कीर्ति है, वही असली धन है, वही असली वाणी है, और वही असली साहित्य है।

मैं बचपन से संस्कारतः साहित्य के इसी 'सुरसरि' तीर पर ही अपना माथा टिकाये हुए हूँ। साहित्य के मर्मज्ञ, विद्वान लोग इसे रसमार्ग, सौंदर्य-बोधमार्ग आदि, जो भी नाम देना चाहें, दें; मेरे मानस में इसके लिए जो रूप उभरता है, वह है—जनमानस की गंगाधारा का चित्र। जनमानस की इसी गंगाधारा की तह पकड़े-पकड़े मैं भी काव्य-रसानुभूति की दुनिया में चुपचाप चला आया। पता नहीं कब, कौन किस अभिसार-पथ पर निकलता है। लेकिन यह अभिसार-पथ आत्मीय जनों की लोकनिंदा और आलोचना द्वारा कितना कठिन हो जाता है, इसकी अनुभूति उन सबको होगी, जो काव्य के अभिसार-पथ पर चले होंगे।

गोस्वामी जी ने इस दोहे में भारतीय उदार चित्त को नई आभा प्रदान की है। तपोवनों में परमार्थ की साधना करनेवाले ऋषियों ने हार्दिकता की ऊँचाई पर आकर सभी सत्ताओं और प्राणियों के कल्याण की कामना की है। साहित्य की भारतीय परम्परा भी अपने मूल तत्त्व-दर्शन और मूल्य-बोध के अनुकूल साहित्य के रचनात्मक प्रयोजन पर बल देती है। यहाँ की साहित्य-संपदा ने भी इस प्राचीनतम वैदिक उक्ति 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' द्वारा अपने सही सरोकारों की तलाश की है। इसका सबसे बड़ा साक्ष्य 'साहित्य' शब्द का व्युत्पन्न अर्थ है। यह शब्द संस्कृत 'सहित' से बना है, जिसका अर्थ होता है—साथ का भाव, अर्थात सहभाव। साहित्य में शब्द और अर्थ की स्पर्धी परस्परता में रसानंद 'ब्रह्मानंद सहोदर' बन कर लोकमंगल के लिए प्रवाहित होता रहता है। ऋग्वेद के एक मंत्र में अम्भृण ऋषि की कन्या वाक् अपने प्रयोजन को परिभाषित करती हुई कहती है: "अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्। तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरि स्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्।।" (ऋग्वेद, 100.25.3) ("मैं देवों में प्रधान होकर सभी का ज्ञान रखनेवाली साम्राज्ञी हूँ। देवों ने अनेक वस्तुओं और रूपों में मुझे प्रतिष्ठित किया।") इस सूक्ति में मनुष्य की सभी रचनाओं में साहित्य को सर्वाधिक रचक तत्त्व स्वीकारा गया है।

साहित्य की संवाहिका 'वाक्' में स्वतः वक्ता और श्रोता की सहभागिता निहित होती है। इसलिए भारत का हर प्रतिभाशाली मनीषी अपने कवि-कर्म में लोकहित की विराट् चेष्टा को व्यंजित ही नहीं करता, उसे अन्वेषित भी करता है। तुलसीदास जी भी भारतीय साहित्य-साधना के उच्चतर लक्ष्यों को निर्धारित करते हैं और ये 'भनिति' को 'सुरसरि' से उपमित करते हैं।

मनुष्य अपनी अपूर्व अभिव्यंजना-शक्ति के कारण अन्य प्राणियों में श्रेष्ठ माना जाता है। अभिव्यक्ति की पूर्णता ही उसे व्यक्ति रूप में प्रतिष्ठित करती है। साहित्य एक अर्थ में मनुष्य की सर्वोत्तम कृति है। इसका मुख्य कारण यह है कि यहाँ मानव

अपनी अभिव्यक्ति में समष्टि भाव को पूरे आवेग के साथ वाणी देता है। इसके जय-पराजय की अविच्छिन्न धारा यहाँ अपने कल-कल निनाद से प्लावित होती है। इसके उदाहरणस्वरूप 'रामायण' और 'महाभारत' को लिया जा सकता है। आदि-कवि वाल्मीकि की 'रामायण' का प्रमुख स्वर मानव की विजय-यात्रा है। यहाँ राम का मनुष्यत्व प्रमुख है और वेदवर्णित देवत्व पार्श्व छवि हो गया है। राम एक पराक्रमी वीर, शीलवान महापुरुष और सत्यव्रती महामानव के रूप में उभरते हैं। यहाँ तक कि जब उन्हें निर्वासन का आदेश सुनाया जाता है तो उनके मन में क्षोभ का लेशमात्र भी प्रकट नहीं होता। वे पिता का वचन तोड़ने की अपेक्षा चौदह वर्षों तक कंटकाकीर्ण वन-प्रान्तरों में सहर्ष जीवन व्यतीत करने के अपने दृढ़ निश्चय को महत्त्व देते हैं। राम त्याग, क्षमा, धैर्य, संतोष आदि से सिक्त उक्त मानव-भाव को गौरवान्वित करते हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र ने ठीक ही कहा है कि "यह काव्य देवता की अवतार-लीला को लेकर ही रचा गया हो, ऐसी बात भी नहीं है। कवि वाल्मीकि के निकट राम अवतार न थे, वे मनुष्य ही थे, पंडित लोग इसको प्रमाणित करेंगे। इस भूमिका में पंडितों के लिए स्थान नहीं है। यहाँ पर मैं संक्षेप में इतना ही कहूँगा कि कवि ने 'रामायण' में मनुष्य के चरित्र का वर्णन न करके देवता के चरित्र का वर्णन किया होता तो उससे 'रामायण' का गौरव घटता और उसका काव्यांश भी उसी अनुपात में मतिग्रस्त होता। राम का चरित्र मनुष्य का चरित्र होने के नाते ही महिमा से मंडित है।" (डा० दिनेश चन्द्र सेन की 'रामायण-कथा' की भूमिका का अंश)

ऋषि-कवि वाल्मीकि छंदः सरस्वती के वरदान से आह्लादित हुए तो कुछ चिन्तित भी हुए। इसलिए कि उन्हें देवता के सिंहासन पर किसी नरोत्तम को प्रतिष्ठित करना था। वाल्मीकि ने आदिकाण्ड के प्रथम सर्ग में अपनी उक्त चिंता नारद के समक्ष रखते हुए कहा :

समग्रा रूपिणी लक्ष्मीः कमेकं संश्रिता नरम्

(किस एक नर का आश्रय लेकर समग्रा लक्ष्मी रूपायित हुई हैं ?)

इस पर नारद ने उत्तर दिया :

देवेष्वपि पश्यामि कश्चिदेभिर्गुणैर्यतं
श्रूयतां तु गुणेरेभिर्नोयुक्तो नर चन्द्रमाः

(ऐसे गुणों से भरा पुरुष देवों में तो मुझे दिखाई नहीं पड़ता, इसलिए जिस नर चन्द्रमा में ये सब गुण हैं, उनकी कथा सुनो।)

'रामायण' उसी नर-चन्द्रमा की कथा है। यह देवता की कथा नहीं। 'रामायण' में देवता ने अपने को न्यून करके मनुष्य नहीं बनाया, मनुष्य ही अपने गुण से देवता हो उठा है। मनुष्य के ही चरम आदर्श की स्थापना के लिए भारत के कवि ने महाकाव्य की रचना की है और उस दिन से लेकर आज तक मनुष्य के इस

आदर्श चरित्र का वर्णन भारत का पाठक-समाज बड़े आग्रह के साथ पढ़ता आ रहा है।

किन्तु आज मनुष्य के लिए सबसे बड़ी समस्या हो गई है, उसकी बुद्धि। इस बुद्धि ने प्रकृति के गुप्त रहस्य-भंडार से न जाने कितने रत्नों को खोज निकाला है और अपनी इहलौकिक सुविधाओं को बढ़ा लिया है। उत्पादन के साधन निरंतर शक्तिशाली होते जा रहे हैं और मनुष्यों की सुविधा-भोग की लालसाएँ नित्य बढ़ती जा रही हैं। वैज्ञानिक साधनों ने ऐसी स्थिति पैदा कर दी है कि सारे संसार की समृद्धि थोड़े-से लोगों के हाथों में केंद्रित हो गयी है।

सुख के भौतिक साधन जितने अधिक बढ़ रहे हैं, उतना ही अधिक हाहाकार संसार में व्याप्त हो उठा है। भौतिक समृद्धि के स्वप्न ने समूची मनुष्य जाति को महाविनाश के कगार पर ला पटका है--कहीं शांति नहीं, कहीं चैन नहीं। बड़े-बड़े महापुरुषों ने सावधान रहने का संदेश दिया है, परंतु ऊँची कुर्सियाँ इतनी ऊँची हो गयी हैं कि वहाँ तक वह आवाज पहुँच नहीं पाती, क्योंकि संसार के उत्पादन साधनों में जो भी क्रांतिकारी परिवर्तन क्यों न हुए हों, मनुष्य के सोचने-समझने के तौर-तरीकों में कितनी भी उथल-पुथल क्यों न हुई हो, मनुष्य की भूख ज्यों-की-त्यों है।

आज मनुष्य विज्ञान और उद्योग के क्षेत्र में चरम सीमा पर पहुँच गया है। अभियंत्रण और अंतरिक्ष विज्ञान की अद्भुत उपलब्धियों ने नीत्शे की इस घोषणा 'ईश्वर मर गया है', को फिर एक बार उछालने की जमीन तैयार कर दी है। आणविक औजारों से लैस होकर आदम या मनु की संतान आज खुद पृथ्वी पर अपने अस्तित्व को ही सदा-सदा के लिए नष्ट करने पर उतारू हो गई हैं। प्रक्षेपास्त्रों की होड़ में सृष्टि में जो भी सत्य, शिव और सुंदर है, अब किसी भी समय महाविनाश के गर्त्त में विलीन हो सकता है। इसलिए आज मानव इतिहास में ऐसे साधनों और प्रेरणा-स्रोतों की सबसे अधिक आवश्यकता है जो भटके और बिखरे हुए मानव-समुदाय को शांति सद्भाव और निर्भयता प्रदान कर सकें। यह बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण है कि आज आदमी अपने ही ऊपर भरोसा खो रहा है। वह अपने को असहाय समझ रहा है। लगता है, वह किसी प्रयोजनहीन स्थिति में जीने को लाचार हो गया है। इसका कारण है कि मनुष्य अपनी सही परिभाषा ही भूल गया है। किन्तु आदमी मरने के और मारने के लिए नहीं जीने और जिलाने के लिए बना है। वह घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, लोभ आदि शत्रुओं को श्रम, त्याग, दया, क्षमा आदि से जीत सकता है। वह दरअसल मृत्युंजय है। वह विजित नहीं विजेता है और वह संहारक नहीं सर्जक है। इसी अहसास और सोच को मनुष्य की सभी कृतियों में साहित्य सबसे अधिक स्पन्दित करता है। मानव-चेतना के महान गायक जयशंकर प्रसाद ने प्रकारान्तर से साहित्य की उक्त भूमिका को 'श्रद्धा' के स्वर में इस प्रकार

निनादित किया है :

तुमुल कोलाहल कलह में
मैं हृदय की बात रे मन।
पवन की प्राचीर में रुक
जला जीवन, जा रहा झुक
मैं कुसुम, ऋतु-रात रे मन ! इस झुलसते विश्व-दिन की

जीवन-सत्य पर साहित्य आधृत होता है। पर सत्य की रक्षा करते हुए इसे बड़ा करने की क्षमता में ही साहित्यकार का यथार्थ परिचय मिलता है। जितना ठीक है, उतना ही व्यक्त करना साहित्य नहीं। प्रकृति में जो कुछ दिखाई पड़ता है, वह निकट प्रत्यक्ष है। इंद्रियाँ उसका साक्ष्य देती हैं। साहित्य में जो कुछ दिखाई पड़ता है, वह सबका सब प्राकृतिक होते हुए भी प्रत्यक्ष नहीं होता है। इसलिए साहित्य में उसे प्रत्यक्षता के अभाव को पूरा करना पड़ता है, रक्षा करके, अवांतर को छोड़कर, छोटे को छोटा कर, बड़े को बड़ा कर, रिक्तता को भर कर, बिखरे हुए को जमा कर वह सार्थक होता है। साहित्य में हम अपनी कल्पना को, अपने सुख-दुख को शुद्ध वर्तमान काल में नहीं, शाश्वत काल में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। उस विशाल प्रतिष्ठा-क्षेत्र के साथ उसका परिमाण-सामंजस्य करना पड़ता है। क्षण-काल में से उपकरण-संग्रह करके जब उसे चिरकाल के लिए गढ़ना होता है, तब क्षण-काल की कसौटी से काम नहीं चलता, इसीलिए प्रचलित काल के साथ और संकीर्ण संसार के साथ, उच्च साहित्य के परिमाण का अंतर रह जाता है।

साहित्य का सत्य अद्वितीय होता है। साहित्य इतिहास और इतिवृत की उपेक्षा नहीं करता, किन्तु वह इनकी अपेक्षा भी नहीं करता। चूंकि सत्य, देश-काल की सापेक्षता में व्यक्त होता हुआ भी सार्वभौम और कालातीत होता है। इसलिए साहित्य अपने संवेदन और संप्रेषण में जिस सत्य को ग्रहण करता है वह संश्लिष्ट, सनातन और सातत्यपूर्ण होता है। महीयसी महादेवी ने ठीक ही कहा है : "कवि जिस सत्ता को अपनी अनुभूति में जी लेता है, उसी को, दूसरों को जीने के लिए देता है। इस सत्य को न जरा का भय है, न मरण का, प्रत्युत वह काव्य की आत्मा बनकर अनन्त संवेदन-संसृति में संचरण करता हुआ नव-नव जीवन-ऊष्मा प्राप्त करता रहता है।" (संकल्पिता, साहित्यकार: व्यक्तित्व और अभिव्यक्ति-3, पृ० 925)।

इस शताब्दी के तेजस्वी चिन्तक ज्यां पाल सार्त्र ने साहित्य की भूमिका पर विचार करते हुए उसे अस्तित्व की संपूर्ण प्रक्रिया से जोड़ दिया है। इनकी दृष्टि में साहित्य की अभिव्यंजना में सत्ताएँ अपनी चरम संपूर्णता को निरंतर उद्भासित करती हैं। यहाँ साहित्य के भाव-बोध में प्रकारान्तर से मानवीय यथार्थ अपनी

सृजनात्मक ऊर्जा को विशिष्ट बनाता है। रचनाकार के सृजन में पृथ्वी, अंतरिक्ष और आकाश के सभी तत्त्व और तथ्य अद्भुत संबद्धता और संयोजन में गुँथ कर अस्तित्ववान हो जाते हैं। सार्त्र ने लिखा है :

"Thanks to us, that star which has been dead for millennia, that quarter moon, and that dark river are disclosed in the unity of a landscape. It is the speed of our auto and our airplane which organises the great masses of the earth. With each of our acts, the world reveals to us a new face."

(What is Literature, Why write, 2nd chapter).

साहित्य का सम्बन्ध जब जीवन से होता है और जब वह जनमानस का सत्य बन जाता है, तब वही साहित्य-धारा जनमानस-गंगा-धारा के समान हो जाती है। वैसे 'सुरसरि' गंगा की धारा अबाध है, निर्मल है, वैसे ही है साहित्य 'सुरसरि' की धारा। पर आधुनिक युग में, विशेषकर वर्तमान समय में गंगा पर शहरों में बड़े-बड़े घाट बने हुए हैं, जहाँ पण्डे, पुरोहित, नाऊ बैठे हुए हैं जजमानों के चुंडन-मुंडन के लिए। घाटों पर अक्सर गंदगी फैली रहती है, क्योंकि वहाँ लेन-देन, जोड़-तोड़, पाप-पुण्य, हानि-लाभ का व्यापार चलता रहता है, लेकिन घाट से बाहर जो 'सुरसरि'की पावन धारा वह रही है, वहाँ सब कुछ निर्मल है, पवित्र है, शुभ है— सबके हित के लिए है। तो हम साहित्यधारा के घाटों और पंडों को ही असली धारा न मान लें। घाट स्वार्थ के अड्डे हैं। नगरों की तमाम नालियों का भ्रष्ट, गंदा पानी, मल इन्हीं घाटों के आस-पास गंगाधारा में मिलता रहता है। स्वार्थ के अंधकार और अहंकार की नालियों में से कितना-कितना कूड़ा-कबाड़ा, मल-मलबा इस 'सुरसरि' की धार में पाटा जा रहा है, उसे अन्य किसी घाट पर खड़े होकर देख सकते हैं, पर जैसे महानगरीय प्रदूषण के कुप्रभाव से अभी तक हमारा जन-मानस, लोकचित्त सुरक्षित और मुक्त है, उसी तरह साहित्य के घाटों के दोषों से जनमानस की लोकगंगा अभी तक मुक्त और पवित्र है।

हमारा जनमानस उसी वैरागी की भाषा में कहता है कि इस भूख में ही मनुष्यता है। जो उपालंभ पाकर भी बढ़ती रहती है, वह विचित्र भूख है। "जनम-जनम हम रूप निहारिलु नयन न तिरपित भेल"—यह जन्म-जन्मान्तर तक देखने से भी तृप्ति का न मिलना, देखने की प्यास का न मिटना ही मनुष्य जीवन की गहराई में छिपा हुआ रहस्य है। सैकड़ों वर्षों से मनुष्य पूछता आ रहा है कि यह क्या है। सब कुछ मिल जाने के बाद भी मिलने की यह लालसा आखिर क्यों बनी रहती है ? मनुष्य की जो अतृप्त आकांक्षा है, उसे वैष्णव कवियों ने व्रज-सुन्दरियों के रूप में देखा है। व्यक्तिगत रूप से यह आकांक्षा अनेकरूपा है, लेकिन उसका अंत-र्भाव कभी राधिका के रूप में हुआ है, जिनके लोचन मदमत्त चकोरी के लोचनों की

चारुता हरण करनेवाले हैं, और कभी श्रीकृष्ण के वंशीवादन से कभी नहीं अघाने-वाले श्रवणों की व्याकुलता में भासित होता है। ऐसे प्रसंगों में साहित्य की वह रसधारा उमगती है जो कभी पुरानी नहीं पड़ती और जो कभी अवरुद्ध नहीं होती। फलस्वरूप मनुष्य की आत्मा निरन्तर प्यासी अथवा अतृप्त रहकर चरम को पाने की निरन्तर आकांक्षा बनाये रखती है। प्रसंगवश यहाँ सूर का वह पद लिया जा सकता है जिसमें गोप-गोपियों का मन बाँसुरीवादन के लिए चिरव्याकुल हो उठता है :

छबीले, मुरली नैंकु वजाउ।
वलि-बलि जात सखा यह कहि-कहि अधर सुधा-रस प्याउ।
दुर्लभ जनम वहव वृन्दावन, दुर्लभ प्रेमतरंग।
ना जानिये वहुरि कब ह्वै हैं स्याम तिहारो संग।।

निश्चयपूर्वक साहित्य-साधना की भावगंगा में लोकहृदय की सहज मानवीय रसधारा तरंगायित होती है जो अपने पार्थिव रूप, रस, गंध, स्वर आदि की आनंदमयता द्वारा सदा सत्य के पूर्ण, अखंड और सनातन दिकों को उद्भासित करती है।

साहित्य-साधना का सर्वोपरि सुफल उसके सुर-सरि रूप में निखरता है। यहाँ साहित्य जनमानस का सत्य बनकर लोकमंगल से जुड़ जाता है। इस संवेदन-गंगा की अवाध धारा में जल हमेशा निर्मल रहता है। इस साहित्य सुरसरि के मज्जन-दर्शन और अवगाहन से लोकजीवन को चरम मूल्यों के संरक्षण, परीक्षण, परिष्करण और संप्रेषण का दुर्लभ अवसर मिलता है। जिस साहित्य में सामुदायिक चित्त की झंकृति रहती है वहाँ व्यक्ति-वैचित्र्य की गुंजाइश नहीं होती। आदमी भूख-प्यास, नींद या भोग के प्रसंग में सही रूप से पहचाना नहीं जा सकता है। वह इन तत्त्वों से प्रभावित होता है, किन्तु इनसे वह पराजित नहीं होता है। इसलिए आदमी खंडित या छिन्न-भिन्न होकर निरन्तर सम्पूर्ण सत्ता का प्रत्याशी होता है। उसे ऐसे अनुभवों में आनंद मिलता है जहाँ वह अपने 'स्व' में 'सर्व' का बोध पाता है। यहाँ यह मुक्तचित्त हो जाता है। यह मुक्तचित्त ही लोकहृदय है जहाँ मनुष्य मात्र का और मनुष्य मात्र के लिए मंगलभाव की धारा प्रवाहित होती है। भारतीय चित्त ने इस लोकमंगल की अमूर्त्तता को गंगा की निर्मल-धवल धारा में मूर्त्तित किया है। यही कारण है कि लोकनायक तुलसीदास जी ने काव्य के प्रयो-जन को सुरसरि के रचनात्मक मिथ की सहायता से उजागर किया है। □

दो

'कविता मृत्युंजयी है'

सुख-दुख, राग-विराग, घृणा-प्रेम, हानि-लाभ—सभी मानव-जीवन के अक्षय भावात्मक द्वन्द्व हैं। लेकिन जीवन में ऐसे क्षण भी आते हैं जब मनुष्य इन स्थितियों से ऊपर उठकर अनुभूति के उस लोक में जा पहुंचता है, जहाँ इन स्थितियों का विलय हो जाता है और वहाँ रह जाता है, सिर्फ एक मुक्तहृदय मानव। कविता, संगीत, नृत्य आदि, इसी मुक्ति की साधना है, जिसे हम भावयोग कहते हैं और उसे ज्ञानयोग तथा कर्मयोग के समकक्ष स्वीकारते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार, "कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ सम्बन्धों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक सामान्य भावभूमि पर ले जाती है, जहाँ जगत की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है।" इस धरातल पर पहुँचकर उसकी व्यक्तिगत अनुभूति समष्टि में लीन हो जाती है और वह निर्विकार हो शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सूत्र में बँध जाता है। आकाश में मँडराते मेघखंड, मुक्त गगन में पंख पसार कर उड़ते पक्षी, गिरि श्रृंगों से उतरकर कल-कल निनाद करता निर्झर, राशि-राशि

मोती बिखेरते चाँदनी के झरने, वायु में अपनी सुरभि लुटाते फूल, अमराइयों में अपनी मादक कूक मुखरित करती कोयल, भिक्षा की झोली फैलाये जर्जर जीवन को बैसाखी के सहारे सँभालता भिक्षुक, तरंगों की बाँहें उठाकर अपनी ओर बुलाती समुद्र की अथाह जलराशि—सबों के प्रति मानव चिर-सहचर भाव से बँधा होता है।

काव्य के प्रयोग पर भारतीय काव्यशास्त्र में पर्याप्त ही नहीं विरल विचार हुआ है। शताब्दियों पूर्व 'रस' के स्वरूप, निष्पत्ति, भेद आदि पर भारतीय आचार्यों ने मन्थन करते हुए काव्य के प्रयोजन पर भी प्रकाश डाला है। निस्संदेह यहाँ रस-विवेचन के प्रसंग में काव्य को लोकोत्तर आनन्द का विषय माना गया। वैदिक वाङ्मय में 'रस' को आनन्द से युक्त किया गया। ऋग्वेद का एक मंत्र है : "यो वः शिवतमो रसः" (10/9/2)। यहाँ अभिधार्थ में 'रस' आस्वाद का अधिष्ठान है पर व्यंग्यार्थ में यह है : आनन्द जो प्रकारान्तर से दर्शन के 'मोक्ष' का पर्याय है। आचार्यों में भट्ट-नायक, अभिनवगुप्त, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि ने रस का विवेचन करते हुए इसे 'चिदानंदमय', 'ब्रह्मानंद सहोदर' 'समाधि की सविकल्पक दशा में प्राप्य' आदि माना है। उपनिषदों में प्रतिपादित 'ब्रह्मानन्द' 'मुक्तात्मा' आदि की पारदर्शी व्याख्या करते हुए डा० राधाकृष्णन् ने कहा है कि "···मुक्ति की स्थिति के सम्बन्ध में जो विभिन्न अभिव्यक्तियाँ मिलती हैं, वे ब्रह्म के अखण्ड या चतुर्विध स्वरूप को ध्यान में रखने पर ही समझी जा सकती हैं। कुछ स्थानों पर ब्रह्म के साथ एकता पर जोर दिया गया है, कुछ में परम पुरुष के मिलन पर और कुछ में विश्व आत्मा के प्रति भक्ति तथा जगत के कार्य में भाग लेने पर जोर है। ईश्वर से मिलन के अनेक रूप हो सकते हैं। जब बाहरी अहंभाव शांत हो जाता है और चेतना की गहरी पर्तें सक्रिय हो जाती हैं, तो आत्मा परम ब्रह्म की शांति में प्रवेश कर सकती हैं या परम पुरुष के साथ उसका मिलन हो सकता है या वह विश्व-आत्मा के आनन्ददायी आलिंगन में आबद्ध हो सकती है।" ('उपनिषदों की भूमिका', पृ० 139)। पाश्चात्य जगत ने अपनी क्रियाशील भौतिकता से प्रभावित होकर साहित्य में आनन्द की अपेक्षा उपयोगिता को अधिक ढूंढ़ा है। किन्तु इधर साहित्य के प्रयोजनों में वहाँ भी ज्ञान, सत्य-संज्ञान, बोध आदि पर खूब चर्चा हो रही है। विख्यात कवि-दार्शनिक इलियट 'फोर क्वार्टर्स' में काव्य को जब दर्शन के सामने रखते हैं या अपने विख्यात निबन्ध 'परम्परा और वैयक्तिक प्रतिभा' में महान् काव्य या सफल साहित्यकार की बात करते हैं तो वे महान् साहित्य-सर्जना में 'व्यक्तित्व के पलायन' को अनिवार्य मानते हैं।[1] इस प्रसंग को

---

1. 'Poetry is not a turning loose of emotions, but an escape from emotion, it is not the expression of personality, but an escape from personality', ('The Sacved Wood', 1920.)

काव्य की रचना या आस्वादन से मिलनेवाले आनन्द को 'मुक्ति' की आनुभविक अवधारणा से जोड़ा जा सकता है। कवीन्द्र रवीन्द्र की एक प्रसिद्ध कविता है 'सुदूर की प्यास'।[1] इसमें कवि ने एक बन्द कमरे की खिड़कियों पर रोज बैठकर एक बालक की दूर के दिक्‌दिगन्त से उभरनेवाले सुदूर से हिल-मिल जाने की आकुलता को बिम्बित किया है। निश्चयपूर्वक उक्त उदाहरण भी कवि या कविता के पाठक की उस अनिवार्य लालसा को पुष्ट करता है जहाँ वह काव्य रचकर अपने तथा अपने पाठक को भी मुक्त कर विश्वरूप या उदारमना बनाता है।

पाश्चात्य आलोचना में कविता की भूमिका को लेकर बहुत ही गंभीर बहस हुई है। विख्यात आलोचक मैथ्यू आर्नल्ड ने कविता को दर्शन का स्थानापन्न माना है और प्रयोजनों के संसार में भी उसे विज्ञान की तरह मूल्यवान माना है। कविता की संगतियों को लेकर पश्चिम में बहुत ही गहरे सवाल उठाये गये हैं। वहाँ के रोमाण्टिक कवि-आलोचकों को तो कविता के बचाव के लिए काफी सचेत व्याख्यान भी करना पड़ा। इसी क्रम में आर्नल्ड ने 'साहित्य और विज्ञान' शीर्षक लेख में बहुत ही विश्वास-भरे शब्दों में कहा है कि समुदाय के शिक्षण के सिलसिले में मानव साहित्य की प्रमुख भूमिका को नकारा नहीं जा सकता है। इसलिए कि जब तक सृष्टि में मनुष्य की प्रकृति अपने पूरे यथार्थ में अस्तित्ववान रहेगी, तब तक साहित्य के प्रति आकर्षण बना रहेगा।[2] आर्नल्ड के ही समान साहित्य के मान्य शिक्षक गिलबर्ट हाइट ने भी अपने 'ह्वाट यूज़ इज़ पोएट्री' लेख में तर्कयुक्त स्थापनाओं के साथ कहा है कि विभिन्न मानव-हृदय कविता से संगीत की स्वर-माधुरी, उपदेश के लहजे में विवेक, प्रतीकों-मिथों द्वारा झंकृत रहस्यात्मक अनुभव, व्याव-

---

1. 'आमि चंचल हे, आमि सुदूरेर पियासी।
दिन चले जाय, आमि अनमने तारि आशा चेये थाकि वातायने
ओगो, प्राण मने आमि ये ताहार परश पावार प्रयासी।
ओगो सुदूर, विपुल सुदूर, तुमि ये वाजाओ व्याकुल बाँशरि॥"

2. अर्नाल्ड ने साहित्य की मूल्यवत्ता के व्यावहारिक पक्ष पर विचार करते हुए लिखा है:
"... We shall all have to acquaint ourselves with the great results reached by modern science, and to give ourselves as much training in its discipline as we can conveniently carry, yet the majority of men will always require humane letters, and so much the more, as they have the more and greater results of science to relate to the need in man for conducts, and to the need in him for the beauty. (The Nineteenth Century, 1882.)

हारिक जीवन सम्बन्धी सूचनाएँ आदि की माँग कर सकते हैं। लेकिन उक्त माँगों की पूर्ति के अतिरिक्त कविता एक विरल मानवी इच्छा की अद्वितीय संपूर्ति करती है। मनुष्य का सर्जनात्मक भाव-उच्छल हृदय कभी-कभी जीवन में सहज भाव से संश्लिष्ट मनोदशा या विरल भावदशा में विकल हो जाता है। अगर किसी को अकस्मात ऐश्वर्य मिल जाय, महान सौन्दर्य के पाने की प्यास जाग जाय और सृजन का अनुपम उपहार मिल जाय तथा अपार ग्लानि में उसका चित्त पीड़ित हो जाय या घृणास्पद कुकर्म के बाद वह पश्चात्ताप की अग्नि में पवित्र होना चाहे तो उसे इन सभी को समाहार देनेवाले काव्य के विरल संवेगों के साथ एकीकृत होना चाहिए। यहाँ भावों के एक ही चित्र-विचित्र पट में वह अपना खोया और मनचाहा या आपा निहार सकता है। गिलवर्ट की मान्यता है कि कविता की आज सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका यह है कि वह आज के संशय, अनिश्चितता, त्रस्त, भयाकुल अर्न्तविरोधों से भरे, अकेले और निराश्रित मानव-मन में गहरी संव्यथा अथवा सहानुभूति पैदा करे या भावक कविता से उक्त समभाव स्थापित करें। इसलिए कि मानवी अभिव्यक्तियों या निर्माणों में कवि की सर्जनात्मक कृति ही अपनी तर्कातीत भूमिका निभाती हुई संश्लिष्ट भाव-संकुलताओं या स्थितियों के साथ तादात्म्य कर सकता है और करा भी सकता है। गिलवर्ट ने अपनी बातों को ताकत देते हुए इस क्रम में शैली की विख्यात कविता 'स्काईलार्क' के इस अंश को उद्धृत किया है।[1]

'a poet hidden
In the light of thought
singing hymns unbidden
till the world is wrought
to sympathy with hope and fears it heedid not'

काव्य-दृष्टि या तो नर-क्षेत्र के भीतर रहती है या मानवेतर बाह्य सृष्टि के भीतर या फिर समस्त चराचर में व्याप्त। संसार में अधिकांश कविता नर-क्षेत्र के भीतर हुई है। परत्व की बाह्य प्रकृति और अंत:प्रकृति के नाना सम्बन्धों और पारम्परिक विधानों की उद्भावना काव्यों में बहुलांश में पाई जाती है। मानवेतर बाह्य प्रकृति का आलम्बन रूप में ग्रहण, संस्कृत के प्राचीन प्रबंध-काव्यों के बीच-बीच में मिल जाता है। मनुष्येतर बाह्य प्रकृति का जो प्राधान्य कालिदास के 'मेघदूत' में मिला है, वह संस्कृत के किसी काव्य में दुर्लभ है। प्रकृति हमारे समक्ष अनन्त रूपों में आती है, कहीं तो अत्यंत प्रफुल्ल मुद्रा में, तो कहीं रौद्र और विध्वंसक रूप में। सच्चे कवि का हृदय इन सभी रूपों म लीन हो जाता है, क्योंकि उनके

1. 'ए क्लर्क ऑफ़ ऑक्जेन फोर्ड, ह्वाट यूज इज पोयेट्री,' 1954

अनुराग का कारण उनका निजी सुख-भोग नहीं, प्रत्युत् चिर साहचर्य द्वारा प्रतिष्ठित वह उद्दाम लालसा है, जिसके मुखर और मौन स्वरूप एक नहीं, अनेक हैं। प्रकृति के साधारण-असाधारण सभी रूपों में अभिभूत करनेवाले वर्णन हमें वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि संस्कृत के सभी श्रेष्ठ कवियों में मिलते हैं। परवर्ती कवियों ने मुक्तकों में प्रायः प्रकृति को उद्दीपन रूप में ग्रहण किया है। अंग्रेज कवि वर्ड्सवर्थ की दृष्टि जहाँ सामान्य, चिर-परिचित, सरल, शांत और मधुर दृश्यों में रमी है, वहाँ शेली की दृष्टि असाधारण, भव्य और विराट् दृश्यों में डूबी है। जैसे—

मुझको उठा लो लहर-सा
या वायु, बादल खण्ड-सा
शोणित से लथ-पथ मैं पड़ा हूँ
जिंदगी की, इस कँटीली धार पर।[1]

लेकिन सभ्यता के बढ़ते चरण ने मनुष्य को जीवन की उन घुमावदार भूल-भुलैयोंवाली सँकरी सरणियों पर ला दिया है जहाँ से निकलने के लिए उसे उन्मुक्त हृदय के व्यापक भाव-मार्ग पर आना पड़ता है। बुद्धिवाद के सहारे आज आदमी उस पथ पर प्रवृत्त होता है, जहाँ वह उन व्यापारों से घिर जाता है जिनका हृदय की भाव-सम्पदा से सम्बन्ध नहीं होता है। सभ्यता के आधुनिक प्रयोजनों के कुहरे से उसका आदिम भाव-लोक आच्छन्न होता जाता है। इसीलिए ऐसी स्थिति में कवि-कर्म का दायित्व और भी बढ़ जाता है। कवि को मनुष्य के हृदय की वृत्तियों से सीधा सम्बन्ध रखनेवाली वस्तुओं, स्थितियों और व्यापारों में मन की आन्तरिक रस चन्द्रिका से आलोकित करनी है, भावलोक के आकाश को निरभ्र बनाना है और कविता के अपराजेय स्वर को सदा स्पन्दित रखना है।

ज्ञान, विज्ञान और संस्कृति की सभी शाखाओं में साहित्य की विशिष्ट स्थिति है।[2] साहित्य का प्रत्यक्ष सम्बन्ध मनुष्य के राग-विराग से है। इसलिए मानव, साहित्य में अपनी संपूर्णता को पाने और उसे संप्रेषित करने का सर्वोपरि विश्वस-

---

1. 'Oh, lift me like a wave,
—a wind, a cloud
I have fallen upon the thorns of life;
I bleed—Shelly.

2. 'दर्शन पूर्ण होने का दावा कर सकता है, धर्म अपने निर्भ्रान्त होने की घोषणा कर सकता है, परन्तु साहित्य मनुष्य की शक्ति-दुर्बलता, जय-पराजय, हास-अश्रु और जीवन-मृत्यु की कथा है। यह मनुष्य रूप में अवतरित होने पर स्वयं ईश्वर को भी पूर्ण मानना अस्वीकार कर देता है।' (महादेवी वर्मा, 'संकल्पिता', सं० 2025, पृ० 43)

नीय माध्यम प्राप्त करता है। यह सच है कि साहित्य एक देश, काल और व्यक्ति की रचना होता है। पर यह भी सच है कि वह सापेक्षिक यथार्थ की कुक्षि से जन्म लेकर निरपेक्ष सत्य को संकेतित करता है। दूसरी ओर यह साहित्य यथार्थों के विभिन्न आयामों पर भाव तथा भाषा की परस्परता में जिस 'सनातन' को झंकृत करने का प्रयत्न करता है वह सातत्य में संकेतित होता है। उक्त 'सनातन' अथवा 'सातत्य' का भावन करते हुए वागेश्वरी के वरद पुत्र रवीन्द्रनाथ गाते हैं :

सीमार माझें, असीम, तुमि बाजाओ आपन सुर-
आमार मध्ये तोमार प्रकाश ताइ एतो मधुर।

(सीमा के बीच, हे असीम, तुम अपना सुर साधते हो। मेरे बीच तुम्हारा प्रकाश इसीलिए इतना मधुर है।) □

तीन

चित्रकूट की चिरन्तन चेतना

धर्म मानव-जीवन के उच्चतर प्रयोजन का प्रमाण है। धार्मिक अनुभवों के माध्यम से मनुष्य 'तर' से 'तम' की ओर प्रस्थान करता है। वेद से कहा गया है—"स्तमो वैतरः"। इसलिए धर्म चित्त की वह विशेष चेतना है जिसके द्वारा हम मन, वचन और कर्म के स्तरों पर सामंजस्य की खोज करते हैं। मित्रता, उदारता, क्षमा, दया, प्रेम आदि के स्वीकारात्मक भावों द्वारा मनुष्य उस केन्द्रबिन्दु को पाता है जहाँ परिधि पर स्थित विभिन्नता, बिखराव, छिन्नता, विविधता, तनाव, द्वन्द्व, असंगति आदि स्थितियाँ समन्वय की प्रक्रिया में पड़कर अखंड हो जाती हैं। चेतना की यह अखंड भाव-भूमि ही धर्म की परम मूल्यवत्ता है।

हमारा आपका कोई मूल्य है, हमारी कोई मर्यादा है—यही जानना धर्म है। मूल्य-मर्यादाओं की यही खोज गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरितमानस' का मूलाधार है। तभी यह ग्रंथ धर्म-ग्रंथ बन गया। यह ऐसी जीवन-पोथी बन गया, जिसमें मानव-जीवन की सभी विधाएँ, उसके सारे आदर्श कुशल पात्रों के चरित से अभिव्यक्त

हो उठें। 'मानस' का मूल स्वर है कि राम लोकमंगल के विधायक हैं और उनकी प्राप्ति ही जीवन का लक्ष्य है। उनकी यह प्राप्ति उनके प्रति अनुराग के बिना संभव नहीं—"मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा"। अतएव 'मानस' का सारा ताना-वाना इस प्रकार बुना गया है कि श्रीराम की लीलाओं में मन लगे और फलस्वरूप उनके प्रति अनुराग जागे। यही कारण है कि तुलसी के राम मात्र इतिहास-पुरुष नहीं हैं, वे भावपुरुष भी हैं। तुलसी की दृष्टि ऐतिहासिक के वदले भावात्मक अधिक है। भाव की यही विशेषता होती है कि वह इतिहास के तंग दायरों को तोड़ देती है। यह भाव की ही विशेषता है जो अपने विशेष्य को देश और काल की सारी सीमाओं से परे कर देती है। यदि श्रीराम मात्र ऐतिहासिक पुरुष होते, तो उनका जन्म आज से कुछ सहस्र वर्ष पूर्व अयोध्या में दशरथ-कौशल्या के पुत्र के रूप में ही माना जाता और तब यह भी स्वीकार कर लिया जाता कि एक दिन उनकी मृत्यु हुई थी। इसका तात्पर्य यह होता कि श्रीराम इतिहासकालिकता से कभी मुक्त न हो पाते। पर ऐसा नहीं हुआ। यहीं तुलसीदास के 'मानस' की देन सार्थक होती है और यहीं सनातन पहचान बनती है—हिन्दू धर्म की। हिन्दू-धर्म का सनातन रूप वह है जहाँ वह देश-काल के संकीर्ण दायरों से मुक्त है। 'मानस' धर्मग्रंथ है। क्योंकि इसके श्रीराम सार्वकालिक, सार्वभौम और सार्वजनिक हैं। इसीलिए प्रकारान्तर से 'मानस' में राम का न तो जन्म होता है न मरण, सनातन धर्म की तरह उनका मात्र प्राकट्य होता है।

इसीलिए 'मानस' का आदर्श वह नहीं, जो केवल शारीरिक बल की पराकाष्ठा प्राप्त किये हुए हो और वह भी नहीं जो मात्र मानसिक या आध्यात्मिक बल के शिखर पर पहुँचा हुआ हो। 'मानस' का आदर्श तो वह है जो सभी प्रकार की शक्तियों के समन्वय की पराकाष्ठा पर पहुँचा है। समन्वय का ही नाम है—धर्म। किसी के धार्मिक होने का अर्थ है कि वह जिसने विराट अस्तित्व और अपने बीच सम्बन्ध खोज लिया। जिसने सम्पूर्ण अस्तित्व के साथ अपना नाता-रिश्ता पा लिया।

इसी धार्मिक होने के प्रसंग में तुलसीदास ने चित्रकूट-प्रसंग की अर्थवत्ता और मार्मिकता को खोजा है। चित्रकूट वह चित्त है, वह मनोदशा है, जहाँ श्रीराम के मनुष्य बनने का आनन्द हम पाते हैं। वह चित्रकूट ही है जहाँ श्रीराम के श्रमबिन्दु संसार के जीवों के लिए गिरे। वह रोये थे, आँसू गिराये थे अपने जन्म के समय जीवों के लिए। उनके श्रमबिन्दु गिरे चित्रकूट में मानव-मिलन के लिए।

चित्रकूट महिमा अमित, कही महामुनि गाई।
आइ नहाये सरित बर, सिय समेत दोउ भाइ॥

वाल्मीकि जी महामुनि हैं। इनका वर्णन अमोघ है। इन्होंने चित्रकूट की

अपार महिमा कही। चित्रकूट वस्तुतः पर्वतों में जो परमेश्वर की विभूति मेरु पर्वत है उसका शिखर है। एक बार मेरु के गर्व से क्रुद्ध होकर वायुदेव ने उसे उड़ा देने की ठान ली। भगवान् ने उसकी सहायता के लिए गरुड़ जी को भेजा। उन्होंने मेरु को अपने डैनों से आच्छादित कर लिया। अतः वायु के प्रचण्ड वेग से भी मेरु की कोई हानि न हुई। मेरु ने कहा, "गरुड़जी ! मुझे तो कुछ पता नहीं चल रहा है। वायु कुछ बल दिखा रहे हैं कि नहीं।" गरुड़जी ने कहा, "बोलो मत। दुबके पड़े रहो। बड़ी आपत्ति है।" मेरु ने कहा, "तनिक-सा मुझे भी सामना करने का अवसर दो।" गरुड़जी ने थोड़ा-सा डैना खिसका दिया तो उसके दो श्रृंग उड़ गये। इनमें एक वृन्दावन में गिरा। इसका गोवर्धन नाम है। दूसरा विन्ध्य श्रृंखला में जो गिरा जिसे चित्रकूट कहते हैं। ये दोनों महामहिम श्रृंग देवताओं के विहार-स्थल मेरु के ही हैं। अतः पर्वतों में इनकी महिमा है।

नदी पनच सर सम दम दाना। सकल कलुष कलि साउज नाना।।
चित्रकूट जनु अचजु अहेरी। चुकई न घात मार मुठभेरी।।

नदी मानो प्रत्यंचा है। बराबर धनुष पर मानो प्रत्यंचा चढ़ी ही रहती है। शम, दम और दान—ये तीन प्रकार के बाण हैं। नदी का आश्रय करके इनका अनुष्ठान करने से कलियुग के सम्पूर्ण पाप धुल जाते हैं। वे ही मानो शिकार हैं।

अहेरी बड़े चंचल होते हैं। लेटकर, बैठकर और दौड़कर ये चोट करते हैं। पर चित्रकूट-रूपी अहेरी अचल है। पर घात कभी नहीं चूकता। सामने जाते ही मारता है। शिकारी को शिकार पर बड़ा मोह होता है। इसी भाँति चित्रकूट को कलिकलुष विध्वंसन का बड़ा मोह है। पाप को मन्दाकिनी खा जाती है और कलिकलुष को चित्रकूट नष्ट करता है।

मानस में चित्रकूट का यह एक दूसरा प्रसंग बड़ा मनोहारी और अर्थवान है:

चित्रकूट के विहग मृग, बेलि बिटप तृन जाति।
पुन्य पुंज सब धन्य अस, कहहिं देव दिन राति।।

देवताओं द्वारा दिन-रात चित्रकूट के चर-अचर के गुणगान का कारण कहते हैं कि जिन्हें आँखें हैं वे तो रामजी को देखकर आँख होने का फल पा जाते हैं। आँख होने का फल तो यह है कि रामजी के चरणकमलों का दर्शन करके जन्म सफल हो। "राम चरन बारिज जब देखौं। तब निज जनम सफल करि लेखौं"। सो यहाँ चित्रकूट के विहग-मृग दर्शन करके शोकरहित पद को प्राप्त हो रहे हैं। जिन्हें आँखें नहीं हैं ऐसे अचर, स्थावर योनि वाले चरण की धूलि के स्पर्श से सुखी हो रहे हैं। परमपद का अधिकार प्राप्त उन्हें हो रहा है जो देवताओं को प्राप्त नहीं है। तभी तो देवताओं को मुक्ति नहीं मिलती।

'रामचरितमानस' में चित्रकूट का इतना बड़ा महत्त्व क्यों है? इसे हमें जानना चाहिए। इसलिए है कि चित्रकूट ही वह स्थान है जहाँ पशु-पक्षी, जीव-

जन्तु, ऋषि-मुनि, भाई-बन्धु, ईश्वर और भक्त सबका एक ही जगह संगम होता है। वही चित्त श्रेष्ठ है, आदर्श है—जहाँ सबके लिए जगह हो। चित्त ही चित्रकूट है। उसी को ध्यान में रखकर आज जो हमारे चारों ओर का जीवन और परिवेश है उसमें 'मानस' के चित्रकूट का महत्त्व उल्लेखनीय है।

तुलसीदास ने 'विनयपत्रिका' में अपने आप से कहा है—

अब चित, चेति चित्रकूटहि चलु।
कोपित कलि, लोपित मंगल मगु, विलसत बढ़त मोह माया-मलु।
भूमि बिलोकु राम-पद अंकित, बन बिलोकु रघुवर-बिहारथलु।
सैल-संग भवभंग हेतु लखु, दलन कपट पाखंड दंभ दलु॥

("हे चित्त! अब तो चेत कर चित्रकूट को चल। कलियुग ने क्रोध कर धर्म और ईश्वर भक्ति रूप कल्याण के मार्गों का लोप कर दिया है, मोह, माया और पापों की नित्य वृद्धि हो रही है। चित्रकूट में श्रीरामजी के चरणों से चिह्नित भूमि का और उनके विहार के स्थान वन का दर्शन कर लें। वहाँ कपट, पाखण्ड और दम्भ के दल का नाश करने वाले पर्वत के उन शिखरों को देख, जो जन्म-मरण रूप संसार से छुटकारा मिलने के कारण हैं।")

जहाँ पर जगत्पिता जगदीश्वर ब्रह्मा, विष्णु और शिव ने सती अनुसूया के पुत्र रूप से प्रपंच और छल छोड़कर जन्म लिया है; जिस चित्रकूट रूपी आश्रम में एक बार प्रवेश करते ही जुए में हार कर वन-वन भटकते हुए युधिष्ठिर आदि पाण्डव और राजा नल का सारा दुख दूर हो गया, वहाँ जाने में अब देर न कर, अपनी अच्छी बुद्धि से यह तो विचार कर कि जितने वर्ष बीत गये सो तो गये, अब आयु के जितने पल बाकी हैं, वे बीते हुए वर्षों के समान हैं। एक-एक पल को एक-एक वर्ष के समान बहुमूल्य समझकर मृत्यु को समीप जानकर जल्दी चित्रकूट जाकर ऐसे श्रीराम मन्त्र का जाप कर, जिसे जपने से श्रीशिवजी कालकूट विष पीने पर भी अजर-अमर हो गये। जब तू वहाँ निरन्तर श्रीरामनाम-जपरूपी सर्वश्रेष्ठ यज्ञ करेगा और पयस्विनी नदी के पवित्र जल में स्नान तथा उसके जल का पान करता रहेगा, तब श्रीरामजी तेरी मनोकामना पूरी कर देंगे और इस सुखमय साधन से सहज ही में तुझे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—ये चारों फल वे दे देंगे। चित्रकूट में जो कामद पर्वत कल्पवृक्ष हैं, वही मनोरथ पूर्ण करने वालों में चिन्तामणि हैं और वे जो युग-युग पृथ्वी पर जगमगाते हैं। यों तो चित्रकूट सभी के लिए सुखदायक है, परन्तु हे तुलसीदास! तुझे तो विशेष रूप से उसी के विश्वास, प्रेम और बल पर निर्भर रहना चाहिए।

जिस चित्त में मानव-मूल्यों और आदर्शों के प्रति आस्था है वही है धर्म। ऐसी धार्मिक चेतना में तनावों से मुक्त होने, और शान्ति पाने की सम्भावना होती है। धर्म अपने आपकी खोज है। यही है 'रामचरितमानस' की सनातन

धर्मदृष्टि। महात्मा गांधी ने इसी संदर्भ में 'मानस' को ईश्वरगाथा का महान भक्तिग्रंथ मानते हुए कहा है : "रामचरितमानस के लिए यह दावा अवश्य है कि उससे लाखों मनुष्यों को शान्ति मिली है। जो लोग ईश्वर-विमुख थे, वे ईश्वर के सम्मुख गए और आज भी जा रहे हैं। मानस का प्रत्येक पृष्ठ भक्ति से भरपूर है। मानस अनुभवजन्य ज्ञान का भण्डार है।" (मानस एक सर्वोत्तम ग्रंथ)।

कालदर्शी मनीषी कवि तुलसीदास ने ध्वनिसाम्य के धरातल पर 'चित्रकूट' में चित्त का गौरव-गिरि अन्वेषित किया है। राम-कथा के प्रसंगों में चित्रकूट मानवीय भावों की संगमस्थली ही नहीं उसकी सर्वाधिक ऊँचाई भी है। मनुष्य अपनी पार्थिव अथवा भौतिक सत्ता को लेकर महान् नहीं होता है। उसका मूल सत्व शील, सद्भाव और समदर्शिता की भित्ति पर खड़ा होता है। गोस्वामी जी राम-वन-गमन में स्वयं भी निराश्रित वनवासी राम के साथ भाव-यात्रा पर निकलते हैं। उन्हें चित्रकूट में राम के ऐश्वर्य से अधिक उनके महाभाव का साक्षात्कार होता है। चित्त की चरम सीमा उसकी प्लावित भावात्मकता है, जो शील, श्रद्धा-भक्ति, प्रेम, दया आदि मानवी भावबोधों में जागृत होती है। इन्हीं भावसत्ताओं की ऊँचाई, अर्थात् कूटत्व पर जाकर राम लोकनायक बनते हैं। यहाँ वे ऐसा केन्द्र बनते हैं, जिसके अन्तर्गत सृष्टि के सभी विरोध-विकार तिक्तता, मतभेद आदि समरस होकर 'शान्त-शिवं' हो जाते हैं। फलस्वरूप चित्रकूट में चित्रकूट अर्थात् चेतना की पराकाष्ठा प्रकाशित हो जाती है। ऐसे ही चित्रकूट में तुलसीदास जी अपने मन का परम ठौर खोजते हैं। □

चार

हिन्दी की रंगभूमि

चार मार्च को 'हिन्दी रंग दिवस' है। इसी 'रंगभूमि' पर इसी दिन भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने नाटक 'सत्य हरिश्चन्द्र' की प्रथम प्रस्तुति बलिया में की थी और उसमें वे स्वयं राजा हरिश्चन्द्र की भूमिका में उतरे थे। इसी दिन जयशंकर प्रसाद ने अपने नाटक 'स्कंदगुप्त' का प्रथम नाट्य-पाठ काशी में रायकृष्णदास के यहाँ किया था। इसी दिन 1917 में डा० रामकुमार वर्मा ने कृष्ण की भूमिका में प्रथम बार अभिनय किया। इसी दिन वैशाली में जगदीशचन्द्र माथुर ने रंग-मेला की स्थापना की और यही चार मार्च नाटककार लक्ष्मी-नारायण लाल का जन्म-दिवस भी है। यह शुभ दिवस, 'हिन्दी रंग दिवस' के रूप में प्रति वर्ष आयोजित होता रहेगा और हमारा विशाल दर्शक-समाज इसकी सार्थक यादों से अपनी 'रंगभूमि' से आत्मिक रूप से जुड़ेगा।

जब हम अपने समकालीन रंगमंच की उपलब्धियों पर नजर दौड़ाते हैं तो प्रयोग संगति, सार्थकता आदि के ख्याल से हमारी कई सिद्धियाँ और संभावनाएँ प्रकट होती हैं। भारती का 'अंधायुग,' राकेश

का 'लहरों के राजहंस,' 'आषाढ़ का एक दिन,' 'आधे अधूरे,' माथुर का 'पहला राजा,' लाल का 'अब्दुला दीवाना' आदि नाट्य रचनाएँ हमें अपनी रंगभूमि के पड़ाव और शिखर रूप में महसूस होती हैं। हिन्दी का रंग दिवस स्वभावत: हमारे कई संदर्भों को उभारता है। यह हमें अपनी महान रंगपरम्परा के दाय की याद दिलाता है और साथ ही यह दिन हमें वक्त के साथ अपनी पूरी रंगधर्मिता में होने वाले बदलावों या, यों कहें हो सकने वाली तबदीलियों की खातिर एक सही सोच भी देता है। सवाल कई हैं और कई तरह से उठाये जा सकते हैं। रंग के प्रति हमारा नजरिया क्या हो, आज हमारे रंग का बुनियादी ढाँचा कैसा हो, हमारे रंग-सम्बन्धी पूरे माहौल के मुहावरे या शब्दावली के इस्तेमाल में पुनर्मूल्यांकन या यों कहें जाँच-पड़ताल की क्या जरूरत है—ये सभी ऐसे पहलू बनते हैं जिस पर रंगकर्मियों के साथ रंगधर्मियों को भी गंभीरता से विचार करना चाहिए। हम इस क्रम में एक या दो पक्षों पर कुछ बहस की शुरुआत करना चाहेंगे। सबसे पहली बात कि अपनी परम्परा, मिट्टी, मूल्य, मान्यताएँ आदि की दृष्टि से हम किस शब्द को उपयुक्त मानें 'रंगमंच' या 'रंगभूमि' को? इसी तरह हम समकालीन संदर्भ में रंगभूमि के रचनात्मक उपयोग पर भी कुछ कहना चाहेंगे।

हिन्दी में प्रयुक्त 'रंगमंच' शब्द पश्चिम के 'थियेटर' के वजन पर बना हुआ है। इस समस्त पद का दूसरा हिस्सा 'मंच' भारतीय आत्मा की झंकार को अपेक्षित व्यापकता और गहराई में व्यक्त नहीं करता है। यूरोपीय भाषाओं में बहुप्रयुक्त 'ड्रामा', 'प्ले', 'थियेटर' आदि शब्द वहाँ की मिट्टी से उपजे हुए हैं। 'ड्रामा' शब्द क्रियार्थक ग्रीक 'ड्रेन' से विकसित है। यहाँ 'करना' का संकेत जीवन या जीवन-खंड की पुनर्रचना से है। 'प्ले' रंजनात्मक क्रियाओं के व्यापक विषय-क्षेत्र का बोधक शब्द है। मूल ग्रीक क्रियापद 'थे'—(दृश्यावलोकन) से विकसित है। यह शब्द खुले मैदान में नाटकीय अथवा महत्त्वपूर्ण क्रियाकलाप प्रस्तुत करने और उसे दिखाने की आम जगह वाले व्यंजक शब्द 'थियेटर' का जन्मदाता है। जी-बलू-जी-विकहैम ने 'ड्रामा' और 'थियेटर' की पारिभाषिकता पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि 'ड्रामा', द्वन्द्व करने वाले पर्याप्त आवेगात्मक प्रसंगों के लिए उदारतापूर्वक प्रयुक्त शब्द है, जबकि थियेटर 'स्वांग' की क्रिया में अपनी मूल तात्विकता पाने वाली उन सभी कृतियों को समेटता है जो अभिनय या प्रदर्शन के लिए बनी होती है (कैशेल्स इनसाइक्लोपीडिया ऑफ लिट्रेचर, भाग-1, लंदन 1953, पृ० 155-156)। इस प्रकार पाश्चात्य विद्वान 'द्वन्द्व' और 'प्रदर्शन' पर बल देते हुए रंगक्रिया को अपनी संस्कृति और जीवन-बोध के अनुसार नाम देते हैं। किन्तु भारतीय 'नाटक' या 'रूपक' शब्द पर जब हम विचार करते हैं तो दोनों के प्रेरक या प्रभावक स्रोतों में 'द्वन्द्व' के चिह्न तो मिलते हैं पर यहाँ इस द्वन्द्व की भारतीय

भूमि भौतिक से अधिक मानसिक है। इसलिए हमारे यहाँ रंग-कर्म मूलतः मनुष्य की विकृति या आक्रामकता के प्रदर्शन से संबंधित न होकर यह हमारी समस्त विकृतियों के परिष्कार और उन्नयन से सरोकार रखता है। इसी प्रसंग में हम भारतीय नाटकों में पश्चिमी ढंग की दुःखान्तिकी के अभाव को भी ले सकते हैं। यहाँ नाटक को लोक के लिए रचित पंचम वेद कहा गया। और इस वेद के प्रदर्शन या प्रकाशन के स्थल को रंगभूमि कहा गया। हमारे यहाँ 'रंगभूमि' का बहुत ही प्राचीनतम और समृद्ध इतिहास है। शुरू में नाटक का अभिनय हर्षोल्लास या धार्मिक अनुष्ठान के अवसर पर मंगलोत्सव या विजयोत्सव के अभिन्न अंग के रूप में किसी देवालय, राजगृह और मुक्त आकाश के नीचे खुले मैदानों में आयोजित होता था। एस० ब्लांच ने ('आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया' प्रतिवेदन, 1909) में बिहार के छोटानागपुर की गुफा में बने प्राचीनतम दोतल्ला प्रेक्षागृह का उल्लेख किया है। भारत के 'नाट्यशास्त्र' में रंगशालाओं के प्रकारों, रंगपीठ, यवनिका, नेपथ्यगृह आदि पर बहुत ही विस्तार से विचार किया गया है। लेकिन भारतीय नाटक-दर्शन में 'रंगमंच' तो 'रंगभूमि' की कुल अवधारणा का एक अंग है। 'मंच' तो विस्तृत और उर्वर भूमि के एक हिस्से पर खड़ा क्षेत्र होता है। नाटक का साध्य है—प्रदर्शनीय अनन्त जीवन-छवियाँ और गूढ़ मानव-मन। इस साध्य की निराकारता और नैरन्तर्य की अभिव्यंजना वाला साधन चुनौतियों-भरा है। यहाँ जीवन बंधता है और नाटक बाँधता है। पर हम यह भी जानते हैं कि यह साधन है जो साध्य की असीम तथा अदृश्य आत्मा को उद्घाटित करता है। इसलिए रंग के 'मंच' की अपेक्षा 'भूमि' ज्यादा साधन की अनुकूलता रखती है। भूमि धारण करती है, संवर्द्धन करती है और हर अमूर्त्त भाव-बीज को चित्र-विचित्र रंग-रूपों में रचती है। भरत अपने नाटक को जीवन के आमने-सामने रखता है। जीवन व्यापक है, गहरा है, गतिशील है, और रचनात्मकता की निरन्तर संभावनाओं से भरा हुआ है। इसलिए इस सर्वांगीण जीवन की संपूर्णता को 'मंच' के बदले 'भूमि' पर ही हम सहजता और ईमानदारी से अभिनयात्मक प्रतिमान और रूपान्तरण दे सकते हैं। तात्पर्य यह कि भारतीय मूल्यबोध के मुताबिक 'मंच' संकुचित और असंगत लगता है और 'भूमि' विश्वसनीय और अनुकूल लगती है। इस 'भूमि' से 'सर्वभाव' 'लोकभाव' और नये मूल्यों की तलाश हो सकती है। इसी भूमि पर खड़ा होने से ही राष्ट्र या संसार के लिए संकल्पित जिजीविषा या अपराजेय मानवीयता अपनी प्रामाणिक अभिव्यक्ति पाती है। साथ ही, यह रंगभूमि हमारे महान ग्रंथ 'गीता' के उस 'धर्मक्षेत्रे, कुरुक्षेत्रे' पर 'संभवामि युगे-युगे' के राष्ट्रीय मानस को सही नाम देती है।

एक दूसरे नजरिये से भी 'रंगभूमि' और 'रंगमंच' के फर्क को देखा जा सकता है। 'रंगभूमि' से बिल्कुल अलग अवधारणा वाला 'रंगमंच' शब्द पश्चिम के

'थियेटर' का अनुवाद है। अनुवाद में जितनी सीमित शक्ति होती है, उसी अनुपात में आधुनिक भारतीय रंगमंच ने इस देश-समाज में अपना जौहर दिखाया है। उसने अधिकतर शहरी रंगमंच बनाया और हर तरह के तामझाम से सजाकर उसे प्रस्तुत किया। उसने मध्य वर्ग के एक बड़े हिस्से को खास कर अंग्रेजियत की चपेट में आये समुदाय को प्रभावित किया। हर स्तर पर इसमें प्रयोग करने की छूट है। समाज के अंतर्विरोधों को इस मंच पर लाया गया। यहाँ हर द्वन्द्व, तनाव, असंगति को बेनकाब किया गया। लेकिन आधुनिक भारतीय रंग-मंच, विशेषकर हिन्दी रंगमंच की स्थिति यह रही कि इसने 'लोक' और 'आधुनिक' के बीच की खाई को पाटने के बदले उसे बरकरार रखा। फलस्वरूप दर्शक-समाज निरन्तर इससे दूर हटता रहा, हालाँकि इसने हर तरह के ताम-झाम से दर्शक समाज को अपनी ओर खींचने के लिए तमाम प्रलोभन भी दिए। पर सच्चाई यह रही कि रंगमंच के दर्शक बम्बइया फिल्मों की ओर भागते हैं। और इधर जब से दूरदर्शन पर चित्र-विचित्र दर्शन होने लगे हैं, तब से एक दूसरा संकट सामने आ गया है। इस प्रकार रंगमंच का अस्तित्व ही खतरे में है। इस क्षेत्र में जहाँ तक मेरी दृष्टि जाती है, यह संकट जितना ही बाहरी है, उससे कहीं ज्यादा आंतरिक है। नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल के शब्दों में कहूँ—तो यह संकट 'मंच' और 'भूमि' के बीच है—अर्थात् 'थियेटर' और 'रंगभूमि' के बीच। मंच तो राजनीति का होता है और 'थियेटर' तो 'आपरेशन थियेटर' भी होता है। तो ऐसे मंच के प्रति विशाल दर्शक समाज क्यों आकृष्ट हो ? हमारा विशाल राष्ट्रीय जनगण, अथवा लोकमानस स्वभावतः अपने 'रंग' और 'भूमि' का अर्थात् अपनी अस्मिता की प्रासंगिकता में स्वकीय रंगभूमि का सहृदय दर्शक ही होगा या होना चाहता है।

आज अपने देश के भीतर और बाहर मनुष्य और उसकी नियति के सामने पहले से भी अधिक प्रश्नचिह्न लग रहे हैं। विनाश के चक्र में पड़कर सृष्टि का सबसे समझदार प्राणी यह मनु या आदम की संतान त्रस्त, निराश्रित, सशंकित और अशांत हो कटे पंख वाले पखेरू की तरह हो गया है। प्राचीन सभ्यता के केन्द्रों में भी मूल्य की दीवारें ही नहीं उनकी नींव भी हिल गई हैं। पर उनकी जगह गहरे अंधकार में डूबी रिक्तता दिख रही है। तब ऐसे समय में सच्चाई और संपूर्ण मानवता के प्रति प्रतिबद्ध होकर नये रंगमंच की शुरुआत पर बहुत गम्भीरता से विचार करना चाहिए। उक्त 'सच्चाई' की प्रकृति और भूमिका पर प्रकाश डालते हुए रंग-विधा के मनस्वी ओट्टो बाह्म का कहना है कि : "हाँ, यह सच्चाई ही है, जीवन के हर रास्ते पर सच्चाई—जिसकी हम माँग करते हैं और जिसके लिए जीतोड़ कोशिशें कर रहे हैं, लेकिन वस्तुगत सच्चाई नहीं जो लड़ाई में लगे लोगों की पकड़ से निकल जाती है, बल्कि व्यक्तिगत सच्चाई जो निहायत निजी संवेदनाओं और विश्वासों से उपजती है और स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति होती है"

('आधुनिक नाटक का अन्वेषण', दिल्ली, 1986, पृ० 3)। इस सच्चाई का संप्रेषण अन्य कारगर कला-प्रकारों की अपेक्षा रंगभूमि ज्यादा मजबूती के साथ कर सकती है। इसलिए कि यह माध्यम अपनी बनावट में लेखक, अभिनेता, दर्शक आदि की व्यापक सामाजिकता को एक साथ समेटता है और दृश्य-श्रव्य माध्यम होने के कारण अपनी बोलती हुई क्रियाओं द्वारा विश्वसनीय ढंग से सही वक्त पर संकटों और परेशानियों से टकराने और जूझने के लिए आदमी को गहरी संवेदनाओं तथा रचनात्मक मनसूबों से भर सकता है। यह दृश्य-कला इसलिए भी आज समय की पुकार पर प्रभावशाली भावात्मक औजार बनकर हर ध्वंस और घृणा से भरे आक्रमण का मुकाबला करती हुई आदमी की जिन्दगी को भरोसे की मंजिलों तक पहुँचा सकती है। ऐसा इसलिए कि अन्य कलाविधाओं में नाटक सबसे अधिक संवेदनशील और लचीला होता है। यह सबसे बड़ा सत्य है कि सब कुछ बदलता है। इसलिए बदलाव के आते ही या उसकी आहट को सुनते ही आदमी से सरोकार रखने वाली यह लोकाभिमुखी कला-भंगिमा अपने प्रतिपाद्य में ही नहीं प्रतिपादन या संप्रेषण में भी अनुकूल बदलाव लाने की पूरी ताकत रखती है। □

पाँच

विद्यापति : 'अपरूप' के अपूर्व कवि

विद्यापति मध्यकाल के काव्य-नभ के समुज्ज्वल बालचन्द्र हैं। इनके भावबोध और काव्य-भाषा में भारतीय साहित्य की विधात्मक ऊर्जा के संगम तथा प्रसव का अद्भुत क्षेत्र उभरता है। इसमें एक ओर अस्ताचल की ओर जानेवाली काव्यधारा को कृष्ण-लीला के अमर गानों से पुनः प्राणवंत बनानेवाले जयदेव की अनुगूंज मिलती है तो दूसरी ओर लोकभाषाओं के कोमल कंठों से फूटा जीवन-रस का अजस्र प्रवाह प्रकट होता है। शायद इसी परिप्रेक्ष्य में काव्य-मर्मज्ञों ने विद्यापति को अभिनव जयदेव के रूप में याद किया है और विद्यापति ने अपने कवि की स्वयं पहचान कराते हुए यह ओजपूर्ण छन्द लिखा है :

बाजचन्द विज्जावइ भासा, दुहु नहि लग्गइ दुज्जन हासा।
ओ परमेसर हर सिर साहइ, ई णिच्चई नायर मन मोहई।

इस प्रकार विद्यापति भारतीय साहित्य की महान गीत-परम्परा की अविच्छिन्न कड़ी हैं। महाकवि सुकुमार भावों से प्लावित माधुर्य रस के अपूर्व स्रोत हैं और जनकतनया के पवित्र प्रेम तथा

सर्वोच्च समर्पण से स्निग्ध मिथिला की अमराइयों में सदा गूँजनेवाले लोककंठ की अद्‌भुत झंकृति भी हैं।

चौदहवीं शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी तक भारतीय साहित्य अनेक महान कवि-प्रतिभाओं के अवदानों से गौरवान्वित हुआ। बंगाल के चण्डीदास, असम के शंकरदेव, मध्यदेश के कबीर, तुलसी और सूर, राजस्थान की मीरा, गुजरात के नरसीमेहता आदि उस समय जन-जागरण के मुख्य संदेशवाहक रहे हैं। पर इन सारे कवियों में मिथिला के कोकिल कवि विद्यापति का स्थान सबसे अलग और अनन्य है। जिस क्षेत्र में विद्यापति का प्रवेश हुआ और जिस परिवेश में उनके कवित्व का आविर्भाव हुआ है, ये सब जर्जरित सामंतवादी संस्कृति से पीड़ित थे। उस समय के दरबारी कवि सामंतों के मनोरंजन को कवि-कर्म समझते थे। चित्रकार कामकला एवं अनेक वीभत्स मुद्राओं के चित्र खींचने में तल्लीन थे। इस जर्जरित सामंती संस्कृति में लोक उपेक्षित एवं दलित जीवन व्यतीत कर रहा था। ऐसे समय एक नवीन लोक-संस्कृति और जन-जागरण के प्रतीक-स्वरूप विद्यापति लोक-मानस में उभरते हैं। अपने युग के समस्त कवियों की तुलना में हम आज यह निःसंकोच कह सकते हैं कि विद्यापति की तरह स्वच्छन्द, गतिशील एवं बहुमुखी व्यक्तित्व किसी और का नहीं है।

विद्यापति के सम्पूर्ण काव्य को पढ़ और सुनकर हमें यह अनुभव होता है कि विद्यापति का व्यक्तित्व विभिन्न प्रकार की परस्पर-विरोधी भावनाओं और विचारणाओं का समन्वित रूप है। कवि के व्यक्तित्व में इस प्रकार का परस्पर-विरोध सम्भवतः उस युग-विशेष का ही परिणाम है, जिसमें अनेक प्रकार की देशी, विदेशी, प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी विचारधाराएँ संघर्षशील थीं। वस्तुतः विद्यापति एक विशेष संक्रमणकाल के एक विशिष्ट प्रतिनिधि कवि हैं। ये दरबारी कवि होते हुए भी मूलतः जन-कवि हैं। शृंगारिक होते हुए भी भक्त हैं। शैव, शाक्त और वैष्णव होते हुए भी धर्म-निरपेक्ष हैं। संस्कारी ब्राह्मण-वंश में उत्पन्न होने पर भी ये विवेक-संत्रस्त या कठमुल्लापन के कवि नहीं हैं। इस तरह कवि विद्यापति का व्यक्तित्व नाना प्रकार के पुष्पों और पौधों की फल-फूल-भरी क्यारी है।

विद्यापति का व्यक्तित्व मिथिला की उर्वर धरती की उपज है। यहाँ गदराए धान की गंध और आम्र-बौरों की मदमस्त महक है। यहाँ के अंचलों में बागमती, कमला, गंडक और कोसी की धाराएँ अजस्र रूप से प्लावित होती रहती हैं। मिथिला में एक ओर षट्-दर्शन के विद्वान हैं, तो दूसरी ओर न्याय शास्त्र-कर्मकाण्ड के प्रकाण्ड पंडित हैं। वहाँ परिनिष्ठित संस्कृत की चारुता के साथ लोक-गीतों से धरती अनुगूंजित है। विद्यापति ने अपने समय के सम्पूर्ण राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक जनजीवन को अपने काव्य में अद्‌भुत ढंग से अभिव्यक्ति दी है

तत्कालीन बादशाह के शासन की दुर्व्यवस्था की उन्होंने अपनी 'कीर्तिलता' में कटु आलोचना की है। उन्होंने उस यथार्थ का वर्णन 'कीर्तिलता' में इस प्रकार किया है :

धारि आनए बामन बटुआ, मथा चढ़ावए गायक चुडुआ।
फोट चाट जनेऊ तोर, उपर चढ़ावय चाह घोर।
गोर गोमर पुरल मही, पैरहु देना एक ठाम नहीं।
हिन्दू बोलि दुरहि निकार, छोटओ तुरुका भभकी मार।

कुछ लोग विद्यापति को दरबारी कवि मानते हैं। लोगों के मन पर कवि का केवल यही चित्र शेष है। पर विद्यापति अपने कवि-व्यक्तित्व में इतने विशद थे कि उन्हें आयाम में बाँध पाना असम्भव है। यह स्पष्ट है कि दरबारी कवियों ने कविता को जनमानस के उच्चासन से गिराकर उसे दरबार की नर्तकी बना दिया। ऐसे कवियों ने दरबार के कृत्रिम गुणगान किए। परन्तु विद्यापति दरबारी कवि होते हुए भी पूर्णतः स्वच्छन्द एवं उन्मुक्त कवि थे। दरबारी चकाचौंध, भोग-विलास और दमघोंटू वातावरण में रहते हुए भी उनकी आत्मा एक श्रेष्ठ भक्त, एक स्वाभिमानी पुरुष और एक रससिद्ध कवि की थी। दरबार में भी वे कवि के रूप में अपना दायित्व निभाते थे और दरबार से बाहर वह जनकवि हो जाते थे। विद्यापति का यह जो जनकवि रूप है, वह इतना सहज और सरस है कि समूची मिथिला भूमि में ही नहीं, समस्त भारतवर्ष के जनजीवन में विद्यापति के गीत विभिन्न रूपों में पूरी हार्दिकता के साथ गाए और समझे जाते हैं। यही कारण है कि आज सदियों बाद भी विद्यापति न केवल मिथिला में बल्कि भारत के कोने-कोने में सूर, तुलसी और मीरा की तरह लोककंठ में सतत् निवास करनेवाली अविस्मरणीय महान् कवि-प्रतिभा हैं।

विद्यापति का संस्कृत, अवहट्ट तथा मैथिली भाषाओं पर समान अधिकार था। इन्होंने इन तीनों भाषाओं में रचनाएँ करके अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया। विद्यापति की पदावली का समादर न केवल मिथिला में हुआ, बल्कि वह देश के दूसरे क्षेत्रों और विदेशों में भी लोकप्रिय है। महान कवि देश-काल की स्थिति-गति, रूप-रंग, आकार-प्रकार आदि में परम सत्य की तरह परम सुन्दर की भी तलाश करता है। कवि के मन-प्राण इस सुन्दर के अन्वेषण और संप्रेषण में व्याकुल रहते हैं। सौन्दर्य के सम्बन्ध में चिन्तकों और सृजनधर्मी कलाकारों में एकमत नहीं है। इसलिए सौन्दर्य के अभिलक्षण, संरचना, मूल्यवत्ता आदि की मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, समाजशास्त्री अनेक व्याख्याएँ हुई हैं। जर्मन दार्शनिक कांट ने सौन्दर्यमूलक आनंद को अपने आप में साधन न मानकर साध्य और उसे उपयोगी के बदले अलंकरण कहा है। जर्मन चिन्तकों के पूर्व, पश्चिम के विख्यात प्राचीनतम विचारक प्लेटो ने सत्य, शिव और सुन्दर को एक माना है और सुन्दर

को परम और पूर्ण कहा है ('दि थ्योरि ऑफ़ ब्यूटी' पृ० 32-34, लेख) भारतीय तत्त्व-चिन्तन और साहित्य-अध्ययन में सौन्दर्य का समृद्ध विवेचन और व्याख्यान हुआ है। 'तैत्तिरीय उपनिषद्' ने सौन्दर्य-सम्बन्धी भारतीय अवधारणा को 'रसौ वै सः' (2/6, 3/6) कहकर व्यक्त किया है। इसके अनुसार चरम सौन्दर्य परम-तत्त्व का पर्याय है और वह इन्द्रियातीत अनुभव की परिणति है। यह आनन्द का समभाव है। इस आनन्द का उत्स रस है जो किसी नाम द्वारा अभिहित नहीं हो सकता। इस प्रकार यह परम सौन्दर्य निस्संदेह अपूर्व, नित-नूतन और अनिर्वचनीय है। आदिकवि वाल्मीकि ने सौन्दर्य की भारतीय चेतना के एक दूसरे आयाम की ओर भी संकेत किया है। कवि के अनुसार यह सौन्दर्य वन-देवी के समान अपनी सहज सुरभि से अभिभूत करता है और द्रष्टा या पाठक उस अपार सौन्दर्यराशि के अवलोकन में अपने को भी भुला बैठता है। कविकुलगुरु कालिदास ने भी सौन्दर्य को प्रकृति-प्रदत्त के साथ ईश्वरीय मानते हुए उसे अपूर्व और अद्वितीय कहा है। 'मेघदूत' में यक्ष का विरही मन अपनी प्रिया की रूप-राशि का चित्र खींचता हुआ प्रकृति के विशाल भाण्डार से यथासंभव सदृश उपादानों को एकत्र करता है, फिर भी यक्षिणी के मूल सौन्दर्य की तुलना में वह उन सभी उपादानों को अपूर्ण और मलिन पाता है ('उत्तरमेघ'-46)। रससिद्ध विद्यापति भी वाल्मीकि, कालिदास आदि की परम्परा में 'राधा-कृष्ण' की रूप-माधुरी का चित्रण करते हुए आह्लादित हो उसे 'अद्‌भुत', 'अनुपम', 'अकथ' आदि अनुभवातीत विशेषणों के साथ 'अपरूप' संबोधन देते हैं। विद्यापति उस परम, किन्तु सहज रूप-संभार को एक साथ अनेक आयामों पर पकड़ने की कोशिश करते हुए उसे नहीं पकड़ पाने की अपनी सात्विक लाचारी को 'कि कहब'—(क्या कहूँ) द्वारा व्यक्त करते हैं। इस 'अपरूप' सौन्दर्य के गायक विद्यापति के ये पद सर्वथा उल्लेखनीय हैं :

आनन देखि भान मोहि लागल, जिनि सरसिज जिनि चन्दा
सरसिज मलिन रचनि दिन ससधर, ई दिन रचनि सानंदा ॥
रूपे रूप हिनुकि रोवा, एहि सभ दैवे आन नहि विहाने
एसेन बुझिअ विसेखा ।

(नायिका के मुख को देखकर ऐसा लगा कि उसके मुख ने कमल और चन्द्रमा को जीत लिया है। कमल रात मलिन रहता है और चन्द्रमा दिन में, किन्तु नायिकामुख दिन-रात आनन्दित रहता है। रूप-रूप में इसकी आकृति है, विधाता ने इसके सदृश दूसरे का निर्माण नहीं किया है, इसे मैं अद्वितीय मानता हूँ।)

सजनी अपरूप पेखल रामा
कनकलता अवलम्बने ऊगल हरिण हीन हिमधामा ॥

नयन नलिन दउ अंजने रंजित, भाहु विभङ्ग विलासा।
चकित चकोर जोर विधि बांधल केवल काजर पासा।।

(हे सखी, आज मैंने अपूर्व सुन्दरी को देखा। ऐसा भान हुआ कि जैसे सोने की लता को आधार बनाकर निष्कलंक चन्द्रमा उगा है। अंजन से रंजित दोनों नयन-कमल और वक्र हाव-भाव से लगा कि मानो विधाता ने चौंकते हुए चकोर-युग्म को काली रस्सी से बाँध दिया हो।)

इसी प्रकार राधा के सौन्दर्य पर विद्यापति मुग्ध हैं। वे केवल इतना-भर कह पाते हैं कि :

देख-देख राधा रूप अपार।
अपरूब के बिहि आनि मिलाओल
खितितल लावनि सार।

दूती कृष्ण के पास पहुँचती है और राधा के सम्बन्ध में कहती है तो यही कहती है :

ए कान्हु ए कान्हु तोर दोहाई।
अति अपूरब देखल साई।

विद्यापति सौन्दर्य को नाना रूपों में देखते हैं। यही कारण है कि वे सौन्दर्य के स्वागत के लिए निरन्तर जागरुक रहते हैं। किन्तु उन्हें पता है कि सौन्दर्य का गुण वास्तव में उस वस्तु में नहीं होता, बल्कि उस वस्तु को पहचानने वाले की आँखों में निहित रहता है। विद्यापति के सौन्दर्य-बोध में ऐसी शक्ति है कि वह मानव-मन में पुलक, प्राणों में शक्ति और शरीर में उत्साह भर दे। प्रत्येक क्षण में यह सौन्दर्य कवि के समक्ष नूतन रूप धारण करके आता है। विद्यापति घिसे-पिटे सौन्दर्य के उपासक नहीं थे। बल्कि वे नूतन सौन्दर्य के पूजक हैं। यही कारण है कि कवि ने इसे 'चिर-नूतन यौवन' और 'अभिराम यौवन' कहकर सम्बोधित किया है। कवि इस नवयौवन के सौन्दर्य को देखकर नव-वसन्त के आगमन पर नवल रसाल की उत्कट सुरभि से उन्मत्त कोकिल की तरह कूक उठते हैं :

नव वृन्दावन नव-नव तरुगन, नग-नव विकसित फूल।
नवल बसन्त नवल मलयानिल, मातल नव अलिकूल।
कालिन्दी-पुलिन कुंज वन सोभन, नव-नव प्रेम-विभोर।
नवल रसाल-मुकुल-मधु मातल, नव कोकिल कुल गाय।
नव युवतीगन चित उमतअई, नव रस कानन धाय।
नव जुवराज नवल वर नागरि, मीलए नव-नव भाँति।
निति-निति ऐसन नव-नव खेलन, विद्यापति मति माति।

विद्यापति पदावली में अधिकांश पद शृंगारी हैं। पर यह कहना बड़ा कठिन है कि विद्यापति की पदावली शुद्ध शृंगारी है या अध्यात्ममूलक। अगर यह

अध्यात्ममूलक है तो यह तय करना बड़ा कठिन है कि इनमें वैष्णव भक्ति की अभिव्यंजना है या निर्गुण भावनाओं की। विद्यापति के पदों में से कोई भी सांकेतिक अर्थ नहीं निकाला जा सकता। पर यह एक विचित्र सत्य है कि महाप्रभु चैतन्यदेव जैसे भक्त विद्यापति के पदों को गा-गाकर भाव-विह्वल हो मूर्छित हो जाया करते थे। चैतन्यदेव जिस पद को सर्वाधिक रूप से गाया करते थे वह है :

य: कौमारहर: स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्तेचोन्मीलितमालतीसुरभय: प्रौढ़ा: कदम्बानिला:।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापार लीलाविधौ
रेवा रोधसि वेतसीतरुतले चेत: समुत्कण्ठते ।।

महाप्रभु चैतन्य तो सिद्ध कोटि के भक्त थे। इस निखिल सृष्टि के अणु-अणु में वे ईश्वर की छाया देखते थे। सकल चराचर को वे परमात्मा का प्रतीक मानते थे। यही कारण है कि विद्यापति के पदों में राधा-कृष्ण का नाम देखते ही वे भाव-विमुग्ध होकर उन पदों का कीर्तन करने लगते थे। वे तो एक ऐसे योगी थे जिनकी जिह्वा विद्यापति के काव्य का आस्वादन करने से रसमय हो गयी थी। विद्यापति की पदावली में मुख्यत: श्रृंगार रस का वर्णन किया गया है, पर उनका श्रृंगार एक व्यापक फलक पर आश्रित है। इसमें शान्त, भक्ति और वीर रस भी समा जाते हैं। श्रृंगार रस के दोनों पक्षों—संयोग और वियोग—के वर्णन में कवि ने अपनी पूरी प्रतिभा एवं कवित्व का उपयोग किया है। कवि के काव्य में श्रृंगार रस की एक ऐसी वेगवती सरिता प्रवाहित हुई है, जिसमें न केवल हिन्दी-भाषी ही, अपितु वंग-भाषी भी सदियों से निमज्जित हो रहे हैं। नायिका संयोगावस्था के आह्लादित क्षणों में कहती है :

जनम अवधि हम रूप निहारल
नयन न तिरपित भेल।
× × ×
कत मधु-जामिनि रभस गमाओल
न बूझल कइसन केल।
लाख-लाख जुग हिय-हिय राखल
तइयो हिय जुड़ल न गेल।

दूसरी ओर वियोग में उसका जीना भी संदिग्ध हो गया है :

धरनि धरिये धनि जतनहि वइसइ
पुनहि उठए नहि पारा।
सहजहि बिरहिन जग मँह तापिनि
बौरि मदन-सर-धारा।

अरुन-नयन-नोर तीतल कलेवर
बिलुलित दीघल केसा।
मन्दिर बाहिर करइत संसय
सहचरि गनतहि सेषा।
आनि नलिनि केओ रमनि सुताओलि
केओ देइ मुख पर नीरे
निसबद पेखि केओ सांस निहारए
केओ देइ मंद समीरे।

विद्यापति का अर्थ क्या है? शब्दार्थ तो यह है कि जो विद्या, अर्थात् ज्ञान, का पति है—वही विद्यापति है। परन्तु कवि विद्यापति के समूचे काव्य को पढ़कर हमें यह अनुभव होता है कि 'विद्यापति' का अर्थ कुछ और ही है। उपनिषदों और समस्त तत्व-चिंतन में दो शब्द बार-बार आए हैं—विद्या और अविद्या। विद्या का अर्थ है—सत्यानुभूति और अविद्या का अर्थ है माया, भ्रम, अज्ञान आदि। विद्यापति के लिए जो सत्यानुभूति प्राप्त हुई है, उसी से वह विद्यापति बने हैं। उनके लिए परम सत्य हैं सौन्दर्य, माधुर्य और प्रेम, यद्यपि इन्हें कभी उन्होंने 'ब्रह्म' नहीं कहा है। अगर ऐसा कहा होता तो विद्यापति जनकवि नहीं रह जाते, वह मात्र पण्डितों के कवि होते और वह रहस्यवादी और आध्यात्मिक कविता-संसार में फेंक दिए जाते। पर विद्यापति जिस विद्या के पति थे, उसका सार केवल सौन्दर्य, माधुर्य और प्रेम है। वे इन तीनों सत्यों का वर्णन कुछ ऐसे विशेष शब्दों द्वारा करते हैं कि भावक मन्त्र-मुग्ध से रह जाते हैं। विद्यापति का नायक किसी नायिका के अनुपम रूप एवं अलौकिक सौन्दर्य को देखकर यकायक कह उठता है:

कि आरे! नवजौवन अभिरामा।
जत देखल तत कहए न पारिअ
छओ अनुपम एक ठामा।

सौन्दर्य को परमोत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए 'कि आरे' का कितना सुन्दर प्रयोग यहाँ किया गया है। ऐसा लगता है कि नायिका की अतिशय सुन्दरता को देखकर बेचारा नायक हतबुद्धि हो गया है। यहाँ सत्यानुभूति पूर्णता में आकर अनिर्वचनीय हो उठी है। जब नायक का यही हाल है तो फिर विद्यापति के सामान्य सहृदयों के हाल का पूछना क्या है।

विद्यापति न केवल कवि कलापारखी थे अपितु वे एक सफल गायक एवं गीति तत्त्वों के ज्ञाता भी थे। वे जानते थे कि किसी प्रबन्ध-काव्य के प्रणयन से उनका वास्तविक लक्ष्य पूरा नहीं हो सकता। विद्यापति तो एक ऐसी अमर रचना करना चाहते थे जिसमें भाव, तत्व कूट-कूटकर भरा हो और जिसमें सहजानुभूति और विशेषकर रसानुभूति का प्राधान्य हो। इस उद्देश्य की पूर्ति तो मुक्तक रचना से

ही सम्भव थी। यही कारण है कि मैथिल-कोकिल ने गीति-काव्य का ही प्रणयन किया और भाव-तत्त्व के प्राचुर्य से उसकी अन्तरात्मा को नितान्त रसमय बना दिया। विद्यापति संस्कृत के भी प्रकाण्ड विद्वान थे और साहित्यशास्त्र के अलंकार, रीति एवं अन्य शैलियों से भी पूर्ण अवगत थे। यही कारण है कि विद्यापति का काव्य-जगत विरल भावों, भक्ति, अनुभवों और अलंकारों से सिक्त है और जीवन-रस से सराबोर है।

विद्यापति के काल में विरोधाभास और नैराश्य के गहरे संदर्भ दिखाई पड़ते हैं। जीवन-मूल्यों से उस समय लोगों की आस्था हट चुकी थी। मानव-समाज में न कोई रस था और न कोई उत्साह। ऐसे समाज और काल के सामाजिक जीवन को उन्नत करने के लिए विद्यापति ने जिस तत्त्व का सहारा लिया, वह है प्रेम-रस। प्रेम-रस को प्रवाहित करने के लिए उन्होंने संगीत का सहारा लिया। इससे उन्होंने अपने समय में रस का संचार किया। मनुष्य को व्यक्ति से सामाजिक बना देना विद्यापति की यह बहुत बड़ी देन है। जब-जब मनुष्य निराश होगा और उसमें उत्साह की कमी होगी, तब-तब विद्यापति का यह पद उसके मन में जीवन के प्रति आशा और आस्था के आवेग जगाएँगे :

बड़ रे चतुर मोर कान, साधन बिनहि भांगल मोर मान।
जोगी बेस धरि आओल आज, के इह समुझब अपरुब काज।
सास बचन हम भीख लइ गेल, मोर मुख हेरइत गदगद भेल।
कह तब—'मान-रतन दइ मोय' समुझल तब हम सुकपट सोय।
जे किछु कहल तब कहइत लाज, केओ नहि जानल नागर-राज।
विद्यापति कह सुन्दरि राई, किए तुह समुझबि से चतुराई।

निस्संदेह अमर सौन्दर्य और प्रेम के महाकवि विद्यापति का सम्पूर्ण कृतित्व रस-संचार से उमड़ता हुआ जीवन-संगीत है। पूर्ण होने के लिए इस धरती पर आदमी को रूप, रस, गंध, स्वर आदि के जिस उच्चतर भाव-बोधों की अनिवार्यता होती है, वे विद्यापति के काव्य में सहज सुलभ हैं। इस प्रकार कवि ने मिथिला के आम्र-कुंजों में स्पन्दित 'अपरूप' संवेदनों का अद्भुत भावन और संप्रेषण किया है। □

छह

शरत
मानव-मन के कालजयी चितेरे

बंगाल के कथा-साहित्य में राजपथ का निर्माण करने वाले शब्द-शिल्पी शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय भारतीय साहित्य में भी वही स्थान और महत्त्व रखते हैं जो किसी सुन्दर माला में प्रथम मणि का होता है। उनकी कला, सुरुचि और सौन्दर्यबोध की समग्र चेतना जीवन से निकलकर साहित्य में सार्थक हुई है। इसीलिए सम्पूर्ण शरत साहित्य जीवन के ताप और सहजता का अभूतपूर्व दर्पण है। उन्होंने परम्परा से प्राप्त देवत्व की ऊँची-ऊँची कल्पनाओं से सन्धि नहीं की और न वे आदर्श की सतरंगी सेज पर सोये। उन्होंने जीवन को उसकी स्वाभाविकता में भोगा था। इसलिए वे मानव रक्त की उत्तप्त और अप्रतिहत वेदना-तरंग से साहित्य देवता को सजाते रहे। प्रेम की जो नदी मानव-मन में व्याकुल होकर गरजती रहती है, उसे यदि कलात्मक संयम और सहज मानवीय सहानुभूति के साथ साहित्य में मुखर किया जाय तो समाज में लोक-मंगल की गंगा उमड़ उठेगी। धरती का सबसे बड़ा सत्य मानव-जीवन है। इसे ही उजागर करने के लिए कला और संस्कृति का रथ काल की डगर पर आगे बढ़ता है।

चिरकाल से मनीषी और मसीहा, मानव-जीवन को मूल्यवान सिद्ध करने में प्रयत्नशील रहे हैं। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में आकर मनुष्य सचमुच ही महिमामंडित हो उठा। मनुष्यता के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध अभूतपूर्व महत्त्व का अधिकारी है। विश्व की कई ऐसी महानतम विभूतियाँ काल के इसी भाग में उत्पन्न हुईं, जिन्होंने त्याग-तपस्या तथा कला-साधना के बल पर मानव-इतिहास में नवयुग का स्वर्ण-विहान लाया। साहित्य, राजनीति और संस्कृति के महाप्राण पुरोधाओं ने विश्व के विभिन्न भागों में इसी समय उत्पन्न होकर मानव-विकास के मार्ग में आए अवरोधों को अपने सबल हाथों से ठेलकर दर-किनार कर दिया और जीवन का रास्ता बनाया। उनके बनाये पथ पर ही आज हमारी संस्कृति का रथ द्रुत गति से अग्रसर हो रहा है। कार्ल-मार्क्स, डारविन, टाल्सटाय, भारतेन्दु, रवीन्द्रनाथ और शरतचन्द्र सबके सब इसी काल की उपज थे। महान है भारत की यह चिर उर्वर शस्य-श्यामला भूमि, जो ऐसे नर-रत्न उत्पन्न करने में सब दिन आगे रही है। प्राणवान साहित्य के प्रणेता शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय इसी शस्य-श्यामला भूमि की अनुपम विभूति थे, जिनकी साहित्य सुरभि देश-काल की सीमा पार कर आगत का आख्यान और अनागत की आरती हो गई है। साहित्यकार के रूप में वे अत्यन्त भाव-प्रवण और आधुनिक थे। व्यक्ति रूप में ये अति उदार, स्नेहित एवं आत्मीय थे। इनके कथा-साहित्य की ख्याति उनके जीवन-काल में ही अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज तक भी पहुँच गई थी। उनके अधिकांश उपन्यासों का अनुवाद लगभग सभी प्रमुख भारतीय और विदेशी भाषाओं में हो चुका है। भाषा का तथाकथित व्यवधान आज राजनीतिक कुचक्र का रूप लेकर हमारी राष्ट्रीय एकता को क्षतिग्रस्त करने पर तुला है। शरत बाबू उससे दूर-बहुत दूर रहकर मनुष्य जाति की आत्मा की भाषा गढ़ने में निमग्न रहे। आजीवन ये ओछी और संकीर्ण दृष्टि से बहुत ऊपर रहे थे। सम्पूर्ण मनुष्यता राग-विराग और सुख-दुःख के एक ही तार से बँधी होती है। साहित्य आत्मा की भाषा जानता है, जाति और प्रान्त की नहीं। इसीलिए शरत बाबू के उपन्यास शीघ्र ही देश-विदेश सर्वत्र फैल गए। लोक-जीवन की भूमिका में पनपे सामाजिक यथार्थ के जीवन्त चित्रों तथा धारदार प्रतिपाद्य के बीच से उभरने वाले उनके उपन्यास बंगला ही नहीं, सम्पूर्ण भारतीय साहित्य की पवित्र धरोहर हैं। मानव-जीवन के गुण-दोषों की ऐसी जीवन्त अभिव्यक्ति और निर्बाध स्वीकृति अन्यत्र दुर्लभ है। शरत् ने मधुवन का सुख माँगकर मरुभूमि का साहित्य लिखना और नीतिवागीश बनना कभी भी नहीं चाहा। व्यक्ति के रूप में जितने मर्मान्त दुःखों को उन्होंने भोगा था, कथाकार के रूप में मानव-जीवन के प्रति उतनी ही अटूट आस्था भी उन्होंने व्यक्त की है। प्रखर सामाजिकता के गहरे भाव-बोध से उत्पन्न उनके सभी उपन्यास लोक-केन्द्रित हैं। इसलिए वे हमारे राग-विराग के सभी स्तरों

का स्पर्श करते हैं। हम सहज भाव से यह विश्वास कर बैठते हैं कि शरतचन्द्र ने हमारी ही कहानी सम्पूर्ण कमजोरियों और शहजोरियों के साथ लिखी है। वस्तुतः ऐसे विश्वसनीय साहित्य का प्रभाव और प्रेषणीयता अमोघ हो जाते हैं। इस दृष्टि से शरत बाबू का साहित्य अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं जानता। सच तो यह है कि मनुष्य-जीवन को शरत बाबू ने सभी स्तरों पर भोगा था। स्रष्टा शरत ने इस यथार्थ की मार्मिक अनुभूति को स्रष्य के सिंहासन पर बैठाकर उसे साहित्य में प्रतिबिम्बित कर दिया। उनकी रचना का सम्पूर्ण पट उनके हृदय की सच्ची अनुभूति और संजीवनी से सिक्त है। यही कारण है कि शरत साहित्य के सभी पात्र जीवन के आमने-सामने खड़े हो जाते हैं। 'चरित्रहीन', 'देवदास', 'श्रीकान्त' आदि उपन्यासों में इसीलिए पाठक शरत बाबू को ढूँढ़ने लगते हैं। ऐसा इसलिए कि उनके नायक वास्तविक जीवन की विश्वसनीयता से संपृक्त हैं। साहित्य जब जीवन-सत्य को प्रेषित करने लगता है तो वह जन-जन का कण्ठहार बन कालजयी हो जाता है। इसी अर्थ में शरत का साहित्य सार्थक और अमर है।

आधुनिक बंगला साहित्य के प्रजापति वंकिमचन्द्र, रवीन्द्रनाथ और शरतचन्द्र माने जाते हैं। वंकिमचन्द्र आधुनिक बंगला साहित्य में नवयुग के अग्रदूत और नये साहित्य के भगीरथ थे। पर मूल रूप से वे एक संस्कारक शिल्पी थे। उन्होंने न्याय और नैतिकता का आदर्श स्थापित किया। वे यह मानने को कभी राजी न हुए कि मनुष्य अपनी कमजोरियों के साथ पूर्णता प्राप्त करता है। उन्होंने दोषी और पापी को कठोर से कठोर सजा दी है तथा पुण्यात्मा और आदर्श चरित्र की आरती सजायी है। इसके विपरीत शरत बाबू ने जीवन को उसकी सहजता में स्वीकार किया। उनके साहित्य में धर्म और नैतिकता का शोर कहीं भी नहीं सुनाई पड़ता। वे परम्परा और शास्त्रों की दुहाई से सर्वत्र मुक्त हैं। उनके सभी पात्रों में मिट्टी की सोंधी महक है, क्योंकि उनका निर्माण ही मृण्मान जीवन से हुआ है। वे मनुष्य को इसलिए प्यार करते हैं कि वह मनुष्य है, इसलिए नहीं कि उसमें देवोपम अलौकिक गुण हैं। यही कारण है कि वे उपेक्षित, अपमानित और निराश्रित मानव को आजीवन करुणा, स्नेह और सहानुभूति बाँटते रहे। शरत जीवन से साहित्य में उतरे, न कि साहित्य से जीवन में। यही कारण है कि शरत-साहित्य मानव-जीवन की असंगतियों, अन्तर्विरोधों, संघर्षों, प्रताड़नाओं आदि की गाथा बन गया है।

आधुनिक युग के भारतीय साहित्य में रवीन्द्रनाथ का स्थान शिखर पर है। मुख्यतः उनका विषय अतीन्द्रिय और प्रकृति-पुरुष का द्वन्द्व रहा है। वे मानवीय घटनाओं को, विश्व-प्रकृति के साथ मिलाकर देखते थे। रवि बाबू के पात्र देश और काल की सीमा से दूर—बहुत दूर प्रकृति की विराटता से अपना तादात्म्य स्थापित करते हैं। दुखातीत जीवन की गाथा ही रवीन्द्र-साहित्य का मूल भाव-बोध है।

शरत बाबू मिट्टी की महिमा से अभिभूत थे। उनके विचार से देवता वह नहीं जो सब कुछ को पीठ दिखाकर जीवन से भाग जाये। वास्तव में देवता वह है जो जीवन का विष पी-पचाकर भी जीवन से आसक्त रहे और उसका मनुष्यता में अटूट विश्वास बना रहे। अन्धकार का भेदन कर प्रकाश की डगर पर चलने में उन्हें विश्वास था। उनकी कला-चेतना के सभी द्वार लोकमंगल के जनपथ पर खुलते थे। इसीलिए वे मानव-जीवन को ही साहित्य में सजाते-संवारते रहे। मनुष्य यदि अपनी गर्दन तानकर आकाश के देवता को छूने का प्रयास करे, तो पाँव जमीन से उखड़ जायेंगे और वह निस्सहाय पंख फड़फड़ाता रह जायेगा। इसीलिए वे मानव-अस्तित्व पर मोल-तोल करने को कभी तैयार न हुए। भीषण भावुकता के बीच भी मनुष्य की चित्तवृत्तियों का आन्तरिक संघर्ष दिखाने में ही वे साहित्य की सार्थकता ढूंढ़ते रहे।

शरत-साहित्य के विश्लेषण से यह निष्कर्ष भी सहज ही स्पष्ट होता है कि वे चिन्तन और चुम्बन दोनों को परम सत्य तक जानेवाले दो विभिन्न पाये मानते थे। शरत की दृष्टि में यह चुम्बन और कुछ नहीं, निश्छल प्रेम की अभिव्यक्ति है। जीवन में सूक्ष्म आनन्द और निरुद्देश्य सुख के जितने भी स्रोत हैं, वे कहीं न कहीं काम के पर्वत से फूटते हैं। शरतचन्द्र ने प्रेम में जिस असीम वेदना को चित्रित किया है, वह जीवन के परम सत्य का ही शरीरव्यापी प्रभाव है। उनमें सभी पात्र प्रेम-प्लावित आत्मा की मुक्ति से आद्योपांत प्रेरित हैं। ये लोग आत्मा की उसी पुकार को सदा सुनते हैं। नीरदा हो या निरुपमा, देवदास की पारो हो या बड़ी दीदी की माधवी—सब एक ही सत्य की विभिन्न प्रतिकृतियाँ हैं। सबमें असफल प्रेम की वेदना हिलकोरें मारती हैं। इनमें प्रेम की भूख अपार है पर तृप्ति का कहीं कोई ठौर नहीं। लगता है कि जेठ की दुपहरी में प्यासा मनुष्य पानी की आशा में सरोवर तक पहुँच गया है, पर उसके वहाँ पहुँचते ही सरोवर का अथाह जल सूख जाता है। लेकिन क्या प्रेम में सफलता ही उसके होने का प्रमाण है? सच्ची बात तो यह है कि अतृप्त वासना ही महत प्रेम का प्राण है। इसके ही द्वार पर मनुष्य-जाति ने कितने काव्य और महाकाव्य की मिठास लुटाई है। इसी द्वार पर कितनी राधाओं ने अपने अमूल्य आँसू का अर्घ्य चढ़ाकर वैष्णव भक्तों के प्राण तृप्त किए हैं। इसीलिए शरत अपने पात्रों को वियोग की ज्वाला में तिल-तिलकर जलते छोड़ देते हैं, परन्तु आत्महत्या अथवा संन्यास के अकर्मण्य और अनास्थामूलक घाट पर उन्हें वे नहीं जाने देते। यहाँ नारियाँ यह भी जानती हैं कि जिन्होंने प्रेम पाया और सुखी हुईं, वे किसी का हृदय शायद ही उद्वेलित कर पाईं। इसके विपरीत राज-लक्ष्मी, पार्वती, सावित्री किसका हृदय पिघला नहीं देती हैं? शरत की करुणा महाकवि भवभूति के करुण रस के समीप है। किन्तु जहाँ भवभूति देव चरित्रों को करुणा से पखारते रहे, वहीं शरत ने पतिताओं को अपने करुणा-जल से धोकर उन्हें

देवी और सती-साध्वी बना दिया। हीरे से आकर्षक मूर्ति गढ़ना आसान है पर मिट्टी की मूर्तियों में हीरे की चमक ला देना विरले शिल्पी ही कर सकते हैं। शरत ने इसी कठिनाई को साधकर कला को सनाथ किया है।

शरत के सम्पूर्ण साहित्य की महिमा नारी के प्रति उनके दृष्टिकोण में प्रकट होती है। उनके सभी उपन्यास नारी-जीवन की असीम करुणा और मर्मान्तिक वेदना की भावप्रवण अभिव्यक्ति हैं। नारी में जो दया, माया, ममता, कोमलता, त्याग, वात्सल्य और सहनशीलता जैसे महान भाव निहित हैं, उनको ही मूर्त्त करने में शरत बाबू ने अपनी विधात्मक ऊर्जा का उपयोग किया। अन्नदा, नारायणी, विशेश्वरी, विन्दाँ, हेमांगिनी, शुभदा, सावित्री, पार्वती आदि ये सभी नारी-सृष्टि प्रेम और वात्सल्य के गंगाजल से प्रक्षालित पावन मूर्ति हैं।

शरतचन्द्र ने अपने उपन्यासों की तरह अपनी कहानियों के ताने-बाने में नारी-हृदय की संश्लिष्ट और सघन बुनावट प्रस्तुत की है। जिन कहानियों में मुख्य कथ्य प्रेम नहीं होता है वहाँ भी शरत नारी की आत्मा के गहन तल में भी उतरते हैं। इनके द्वारा अन्वेषित नारी जब प्रेम के पहले आवेग की चपेट में आती हैं तब कथाकार पूरी संजीदगी के साथ उनके प्रत्येक मुखर-मौन व्यवहार के सूत्रधार कारणों की सूक्ष्म पड़ताल करता है। कहा जाता है कि 'हरिलक्ष्मी' कहानी की हरिलक्ष्मी शरत द्वारा वर्णित नारी-मनोविज्ञान का अनुपम उदाहरण है। हरि-लक्ष्मी, कमला से मित्रभाव रखना चाहती है, उस पर वह पूरे दिल से रीझती है। किन्तु उसका यह आंतरिक स्वीकारात्मक भाव, बाद में उसके द्वारा किये जानेवाले दुर्व्यवहारों में अभिव्यक्ति पाता है। यहाँ साध्य है प्रेम, पर साधन है घृणा। बाद में बार-बार वह कमला के प्रति अपने आंतरिक स्नेह की पर्त्तों को खोलना चाहती है किन्तु परिस्थिति, मन का द्वन्द्व, मानव-स्वभाव की असंगतियाँ नारी स्वाभिमान की विकरालता आदि उसे अंत-अंत तक कमला का संव्यथी नहीं बनने देतीं। इसी प्रकार नारी-जीवन के चित्र-विचित्र कैनवास पर शरत ने सधी कूची से नारी-हृदय के गहरे कोने में स्थित अनेक अनदेखे-अनजाने द्वन्द्वों, विरोधों, विरोधाभासों और उलझी भावनाओं का प्रामाणिक साक्षात्कार कराया है। 'छवि,' 'परिणीता,' 'दत्ता' आदि उनकी ऐसी ही अमर कहानियाँ, जिनमें अपनी अन्य कहानियों से विपरीत उन्होंने प्रेम को वियोग अथवा कुंठा के मार्ग में सदा के लिए भटकाने के बदले मिलन के मंजिल पर पहुँचा दिया है।

शरत बाबू का व्यक्तिगत जीवन उनके साहित्य में आये अधिकांश नारी पात्रों से सम्बन्धित रहा है। इस नारी-सम्पर्क में उन्होंने नारीत्व और सतीत्व के अलग-अलग रूप देखे। नारी का सच्चा रूप उसकी देह-यष्टि अथवा बाह्य आवरण में नहीं, बल्कि अन्तर में निवास करता है। बाहर से सती-साध्वी दीखनेवाली नारियों को भी शरत बाबू ने औघट घाट में भटकते देखा था और इसके विपरीत तथाकथित

पतिताओं में भी उन्होंने दिव्य और अलौकिक गुण पाये थे। इसीलिए वे मानव-धर्म को सती-धर्म से बहुत ऊपर मानते थे। नारी-हृदय की मंगलमयी करुणा और उच्छल मातृ-वेदना, सतीत्व से अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं। अतएव, वे तत्कालीन बंगाल में प्रचलित रूढ़ियों, अन्धविश्वासों और परम्पराओं से मुक्त होकर नारी जाति में निहित मनुष्य धर्म और अमित प्रेम को उजागर करने के लिए कटिबद्ध हो गए थे। पतिताओं को भी उन्होंने उतनी सहानुभूति क्यों दी ? वे मानते थे कि परिस्थितियों से प्रेरित और विवश होकर मनुष्य जब कुछ ऐसा कर बैठता है तो वह वास्तव में बुरा नहीं हो जाता। बाह्य रूप में जो पतित है, पतन उसके लिए यथार्थ हो सकता है, किन्तु सत्य नहीं। किन्तु बाहर के इस पतन के भीतर उसका सम्पूर्ण नारीत्व अक्षुण्ण भी रह सकता है। अत: क्षणिक प्रमादवश की गई भूल के कारण उसे उपेक्षित और अपमानित करना मनुष्यता का अपमान है। उसे आत्म-हत्या के लिए प्रेरित करना अथवा संन्यास के मार्ग पर धकेल देना और भी बड़ा पाप है। संसार में दूसरे मूल्य किसी स्तर पर भले ही झूठे हो जायें, किन्तु सहज मानवीय करुणा कभी झुठलायी नहीं जा सकती। अत: नर हो या नारी, गिरकर उठने का अधिकार उसे मिलना ही चाहिए। जो समाज इस उदारता की अवहेलना करता है, उसे शरत मनुष्यता का शत्रु मानते थे। वे क्षमाहीन समाज, प्रीतिहीन धर्म, जातिगत घृणा और स्वजाति के प्रति हृदयहीन कठोरता के विरुद्ध सतत् लड़ते रहे। यद्यपि अपनी असीम मानवीयता के कारण उन्हें बिरादरी से बहिष्कृत हो जाना पड़ा किन्तु इसी ऊँची और उदार दृष्टि ने उन्हें मनुष्यता की बिरादरी में अमरता का गौरव दिया है। उनके अक्षय यश-कलश का मुख्य स्रोत उनका यही उदार दृष्टिकोण ही तो था।

सम्पूर्ण भारतीय साहित्य की मूलभूत विशेषता उसकी अनेकता में व्याप्त एकता है। तमिल हो या तेलुगु, मलयालम हो या कन्नड़, बँगला हो या हिन्दी—हमारी सभी भाषाओं के श्रेष्ठ और लोकप्रिय प्रणेताओं ने इस राष्ट्रव्यापी एकता की धारा को सदा पुष्ट किया है। भारतीय साहित्य ने जाति और धर्म, प्रान्त और भाषा से ऊपर उठकर सदा ही जीवन के परम सत्य का अनुसंधान किया है। सत्य का यह अनुसंधान नाटक, उपन्यास, काव्य आदि सभी माध्यमों से अभिव्यंजित हुआ है। अखंड आनन्द की स्थापना एवं लोक-कल्याण की सुरसरि से जन-मानस को परितृप्त करना ही भारतीय जीवन-दर्शन की अलौकिक आभा है। भारतीय साहित्य ने विभिन्न भाषाओं और काव्य-विधाओं के माध्यम से इस सत्य को खोजा और उसे अन्तत: पाया है। इसीलिए साहित्य के श्रेष्ठ प्रतिमान—'महाभारत' और 'रामायण' में सारे संघर्षों के बाद भी मानव-जीवन का पर्यवसान अखंड आनन्द में ही दिखा गया है। शरत बाबू भी भारत की इसी समृद्ध साहित्यिक और सांस्कृतिक परम्परा की एक कड़ी थे। उन्होंने जिस प्रेम को जीवन का अमूल्य

अवदान सिद्ध किया है, वह असीम वेदना के बाद भी मानव-मन को अखंड आनन्द ही प्रदान करता है। प्रेम के संयोग और वियोग दोनों पक्षों में वियोग श्रेष्ठ माना गया है—क्योंकि—"मिलन अन्त है मधुर प्रेम का और विरह जीवन है।" शरत बाबू का साहित्य वियोग की वेदना से विगलित करुणा-सागर है। परन्तु इसमें अवगाहन करने पर क्या हमें अलौकिक आनन्द की अनुभूति नहीं होती ? निश्चय ही शरत का प्रत्येक पाठक पुस्तक समाप्त करते-करते एक ऐसे लोक में पहुँच जाता है, जहाँ उपयोगिता और जय-पराजय का शोर नहीं, बल्कि मन-ही-मन विसूरने की चेतना जागृत रहती है। ऊँची मानवता की भूमि वहीं से शुरू होती है, जहाँ उपयोगिता की सीमा का अन्त है। भारतीय साहित्य अनादि काल से इसी अलौकिक सत्य की खोज करता रहा है और शरत बाबू ने इसी सत्य को श्रीकान्त, राजू, देवदास, पारो, राजलक्ष्मी, अन्नदा आदि पात्रों के माध्यम से चिरन्तन बना दिया। इसीलिए भारतीय साहित्य का इतिहास शरत बाबू के बिना अधूरा माना जायेगा और मनीषी शरत की साहित्य-साधना की आभा के बिना विश्व-साहित्य का उत्तुंग शृंग भी सही अर्थ में आलोकित नहीं होगा।

साहित्यकार जब उदारता को अपना लेता है तो उसकी दृष्टि दूरव्यापी और प्रतिभा बहुमुखी हो जाती है। शरत बाबू भी अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में देश और समाज की इतर साहित्यिक समस्याओं के प्रति सजग हो उठे थे। सामान्यतः लोग उन्हें एक कथाकार के रूप में ही जानते हैं, परन्तु जिन दिनों राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के नेतृत्व में सारा देश स्वाधीनता-संग्राम में लगा था, शरत बाबू ने भी राजनीति और साहित्य—दोनों मंचों से इसमें सक्रिय सहयोग दिया। देशबन्धु चितरंजन दास के लिए तो उनके मन में भक्तिभाव ही था और सुभाषचन्द्र बोस को वे अपने विचारों का ताप संप्रेषित करते रहे। वे स्वयं बहुत दिनों तक हावड़ा जिला कांग्रेस समिति के विधिवत निर्वाचित अध्यक्ष रहे। तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में देश-भक्ति और असहयोग-आन्दोलन के पक्ष में उन्होंने अनेक आग्नेय निबन्ध भी लिखे थे। उनका प्रसिद्ध उपन्यास 'पथेर दावी' क्रान्ति-भावना पर आधारित तत्कालीन राजनीति का ही अभिलेख है। इसकी बिक्री पर अंग्रेज सरकार ने बहुत दिनों तक रोक भी लगा दी थी। वे मानते थे कि साहित्यकार को देश की समस्याओं से विरत होकर कल्पना का शीशमहल नहीं बनाना चाहिए और राष्ट्र के कुशल-क्षेम में ही साहित्य-साधना की भी सार्थकता खोजना उचित है। इसी मान्यता के आधार पर उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन के कई अनमोल वर्ष, राजनीति की उथल-पुथल को सौंप दिए।

प्रत्येक साहित्यकार का दर्शन प्रकृति और परिवेश से प्रभावित होता है। शरत बाबू के साहित्य का सनातन सत्य मानव-मुक्ति का मंत्रोच्चार है। सम्पूर्ण मानवता की जननी नारी होती है और उसे गौरव-दान देकर शरत बाबू ने मानव-जाति का

गौरव धरती से ऊपर स्वर्ग तक पहुँचा दिया। वे नारी के भीतर एक और नारी का अधिवास मानते थे जो इन्द्रियातीत और अगोचर होती है। इसे पाने के लिए पुरुष को अंग-संज्ञा के पार जाना होता है। पुरुष को नारी आत्मा के प्रेम-समुद्र में फेंक आती है। शरत बाबू आत्मा के इसी समुद्र में निवास करनेवाली राजलक्ष्मी को ढूंढ़ रहे थे और अन्ततः वहीं जाकर उन्होंने अपनी सरस्वती को विश्राम भी दिया। शताब्दियाँ बीत जायेंगी और काल की धारा तथा मनुष्यता के इतिहास में नये-नये कल्पवृक्ष लगते रहेंगे, किन्तु शरत बाबू न कभी विस्मृत न होंगे और न विलीन ही। उनकी साहित्य-सुरभि, सांस्कृतिक अवदान और राजनीतिक चेतना गंगा के प्रवाह-सा सर्वत्र पहुँचकर निर्मल रहेगी। □

सात

दिनकर : पौरुष और प्रेम के महान कवि

दिनकर बीसवीं शताब्दी के काव्य-गगन से उदित नक्षत्रों में एक विलक्षण प्रतिभा हैं। दिनकर की जीवन-यात्रा 30 सितम्बर, 1908 से शुरू होकर 24 अप्रैल, 1974 में विराम लेती है। इस कवि की चिन्मय साहित्य-साधना लगभग 1924 से स्पन्दित होकर मृत्युंजयी संवेदनाओं और ओजस्वी छन्दों का अद्भुत साक्षात्कार कराती है। किसी महान कवि की ऊर्जा को आँकना सरल नहीं है। एक विचारक ने कहा कि दिनकर युगधर्म के हुंकार थे। कवि ने स्वयं 'उर्वशी' की गाथा गाते हुए कवि-कर्म के साथ महत् काव्य-प्रयोजन का अहसास कराते हुए कहा है :

"मर्त्य मानव की विजय का तूर्य हूँ मैं,
उर्वशी अपने समय का सूर्य हूँ मैं।"

भारत की रागात्मक सत्ता के उन्नयन तथा स्पन्दन में दिनकर की महती भूमिका का अभी तक उच्चतर मूल्यांकन नहीं हुआ है। अंग्रेजी साहित्य के विख्यात चिन्तक आर्नल्ड की मान्यता है कि जरूरत पड़ने पर कविता दर्शन की जगह ले सकती है। निःसंदेह दिनकर कवि-

मनीषी हैं। यह सत्य है कि दिनकर अपने समय ही नहीं प्राक् इतिहास तक की कुक्षि से मार्मिक प्रसंगों का दोहन करते हैं, लेकिन यह भी सत्य है कि हमारा यह कवि शक्ति के साथ प्रज्ञा के अनेक अनजाने शिखरों का आरोहण करता है। यहाँ मेरा संकेत खासकर उनके 'कुरुक्षेत्र' और 'उर्वशी' की ओर है। यह कहना मुश्किल है कि दिनकर का काव्य कृतित्व केवल 'शक्ति-कविता' (Poetry of Power) है या ज्ञान-कविता (Poetry of Wisdom) है। 'कुरुक्षेत्र' में हम यह तय नहीं कर पाते कि उच्चतर मूल्यों की तलाश में दिनकर अपने कंठ में सबसे अधिक किसे बैठाते हैं—युधिष्ठिर या अर्जुन को, द्रोण या भीष्म को और इसी प्रकार 'रश्मिरथी' में—कर्ण या कुन्ती को ? क्योंकि दिनकर स्वयं कहते हैं : "भीष्म के सामने पहुँचकर कविता जैसे भूल-सी गई हो। फिर भी 'कुरुक्षेत्र' न तो दर्शन है और न किसी ज्ञानी के प्रौढ़ मस्तिष्क का चमत्कार।" दिनकर की यह स्वीकृति हमारे लिए ज्यादा विश्वसनीय है क्योंकि "'कुरुक्षेत्र' एक साधारण मनुष्य का शंकाकुल हृदय ही है, जो मस्तिष्क के स्तर पर चढ़कर बोल रहा है।"

महान कवि का एक लक्षण यह भी होता है कि उसकी संवेदनाओं को सिद्ध आलोचक भी कोटिबद्ध नहीं कर पाता। इसलिए कि एक ओर कविता 'अभिधा' पर खड़ी होकर भी 'व्यंजना' की अशेष संभावनाओं को प्रकट करती है और दूसरी ओर वह अपने परिप्रेक्ष्य में सत्य के अनेक देखे-अनदेखे आयामों को झंकृत करती है। कहा जा सकता है कि इतिहासकार घटनाओं से कोई निचोड़ निकालने की कोशिश करता है, दार्शनिक अपने तत्त्व-चिन्तन को अंतिम सत्य सिद्ध करने की भंगिमा दे सकता है और विज्ञान तो वस्तुओं-व्यापारों में सामान्य की खोज करता ही है। लेकिन साहित्य राग के स्तर पर सत्य के सातत्य, अर्थात 'मूल्यों की नहीं चूकनेवाली भावात्मक तलाश' है। इसलिए भी दिनकर की याद आती है कि इस कवि ने अपनी रचना यात्रा के हर पड़ाव पर एक साथ काल को अंकित भी किया है और उसका अतिक्रमण भी ! इस संदर्भ में कविता एक माने में सही उत्तर से ज्यादा सही प्रश्न है और अर्थ के निश्चयन से ज्यादा उसका नैरंतर्य है।

दिनकर के काव्य की यह भी खूबी है कि वहाँ रसास्वादन की खुलती हुई पंखुड़ियों का ऐसा लीला कमल दिखाई पड़ता है जिसे शतदल कहना समुचित होगा। यही कारण है कि 'हुंकार' से लेकर 'हारे को हरि नाम' तक की कृतियों में कहीं युद्ध-शांति, कहीं हिंसा-अहिंसा, कहीं विगत-अनागत, कहीं देवता-दानव आदि की द्वन्द्वात्मकता में शाश्वत सत्य ही नहीं, जीवन-यथार्थ का अद्वैत विविध हो उठता है। 'उर्वशी' दिनकर की ही नहीं, हिन्दी के काव्य-कंठ की भी उर्वशी है। ऐसा माना जाता है कि प्रत्येक प्रख्यात कवि अपनी सृजन संध्या में मनीषी हो उठता है। 'उर्वशी' में विद्वान कामाध्यात्म की खोज करते हैं। मैं उर्वशी और पुरुरवा की परस्परता में मृत्यु की पकड़ से दूर निकल जानेवाली प्रीति के सार्थक

अन्वेषण को अधिक विचारणीय मानता हूँ। दिनकर ने प्रीति को परिभाषित करते हुए कहा है :

"मान की बात न श्रुति से कह सखि,
बोले प्रेम विकल होता है,
अनबोले सारा दुख सह सखि !
कितना प्यार ? जान मत यह सखि !
सीमा, बन्ध; मृत्यु से आगे
बसती कहीं प्रीति अहरह सखि !"

दिनकर के काव्य-गौरव को आँकते हुए भारत का लोकमानस उन्हें राष्ट्र कवि का सिंहासन अर्पित करता है। मैं समझता हूँ कि महाकवि दिनकर के प्रति हम सभी लोगों की ओर से यह सर्वोपरि भावांजलि है, इसलिए कि दिनकर के काव्य में राष्ट्र का चेतन-अवचेतन, आशा-आकांक्षा, संघर्ष-चुनौतियाँ और इसी प्रकार राष्ट्र की सम्पूर्ण गरिमा मुखरित होती है। कवि ने अपनी अनेक कृतियों में देश के वन-पर्वतों, नद-नदियों और अतीतकालीन महान पुरुषों के उदात्त अवदान को कहीं मिथकों में, कहीं रूपकों में, और कहीं उपमाओं में मूर्तित किया है। महाकवि मैथिलीशरण गुप्त के बाद राष्ट्रकवि का उत्तराधिकार हमारे इसी कवि को प्राप्तव्य ही नहीं प्राप्त भी है।

दिनकर के सम्बन्ध में जब मैं सोचता हूँ तब एक सात्विक दुविधा में पड़ जाता हूँ। दिनकर को किसका कवि कहूँ ? शौर्य का या प्रेम का, कालिकता का या कालातीतता का ? मैं जोखिम लेना नहीं चाहता। मैं अपने इस श्रद्धेय कवि को सत्य की स्पंदित सम्पूर्णता का यशोगान करनेवाला कालजयी कवि मानता हूँ।

कवीन्द्र रवीन्द्र ने अपनी एक कविता में कहा है :

"आमार ए जन्म दिन माझे आमि हारा
आमि चाहि बन्धुजन मारा
ताहादेर हातेर परशे
मर्त्येर अंतिम प्रीतिरसे
निये याब मानुषेर शेष आशीर्वाद।"

[मैं अपने इस जन्मदिन में खो गया हूँ। मैं चाहता हूँ कि जो मेरे बन्धु हैं उनके हाथों के स्पर्श से मृत्युलोक के अंतिम प्रीति-रस में जीवन के चरम प्रसाद को लेता जाऊँ।]

महान कवि मृत्युंजयी होता है। वह अपनी सर्जनात्मक संवेदनाओं और भाषिक भंगिमाओं द्वारा नश्वर पंचभूतों को भी चुनौती देता है। इसलिए हमारा महाकवि दिनकर आज भी सहृदय के हास-अश्रु के बिम्बों-प्रतिबिंबों में जीवित है, और जागृत है। □

खंड : ख

शिक्षा

एक

हिन्दी की राष्ट्रीय धारा

भाषा मनुष्य की मौलिक, सहज और समग्र अभिव्यक्ति है। भाषा की आंतरिक रचना में ही भाषा का मुख्य प्रयोजन संकेतित है। मनुष्य बोलकर अपने को व्यक्त ही नहीं करता वरन् अपने को दूसरे तक संप्रेषित भी करता है। इसलिए भाषा संस्था होती है। यह ध्वनि-संकेतों द्वारा बहुत्व और विभिन्नता में संयोजन करती है। इसलिए हमारे महान लोकतंत्र की विविधता में सांस्कृतिक एकता की संवाहिका बनकर यहाँ की भाषा-संपदा ने महती भूमिका निभाई है। इस विशाल देश में विविध जीवन-पद्धति, चिन्तन-प्रकार, भावबोध, मूल्यगत मान्यताओं के बीच तात्विक एकता की कारगर ताकतों ने देश को सदा टूटने और बिखरने से बचाया है। शताब्दियों के राष्ट्रीय इतिहास में सदा देश की वाचिकशक्ति ने राष्ट्रीय व्यक्तित्व को सशक्त रखा है। इसलिए हमारी संस्कृति भाषा को देवत्व प्रदान करती है। हमारे यहाँ शब्द 'ब्रह्म' की महिमा से मंडित है। हम वाणी की अधिष्ठात्री को सरस्वती कहते हैं। इस देवी के कर में जो वीणा शोभती है उसमें अनेक तार हैं। देवी का यह ऐश्वर्य प्रतीकात्मक है।

वीणा के ये तार देश की सभी भाषाओं की उस झंकार का प्रतिनिधित्व करती हैं जो समय-समय पर किसी एक भाषा को सहयोग देती हुई राष्ट्र-वाणी को स्पन्दित करती हैं। इसलिए देश की सभी भाषाएँ राष्ट्रीय भाषाएँ हैं और संस्कृत की तरह हिन्दी उक्त सभी भाषाओं की केन्द्रीय मुखरता है।

महात्मा गांधी ने हिन्दी को जनता की जाह्नवी कहा था। गांधी जी भाषा-विद् या साहित्यकार नहीं थे। किन्तु वे उन तत्त्वों को भली-भाँति जानते-पहचानते थे, जिनसे जातीय निर्माण के साथ-साथ भाषा का उद्‌भव होता है। उनके ज्ञान के पीछे दीर्घ अनुभव और व्यापक जन-सम्पर्क का आधार था। गंगोत्री से निकलकर हरिद्वार के समतल तक आते-आते गंगा में कई नदियाँ मिलती हैं, जैसे पिंडार, अलकनन्दा, मंदाकिनी, भागीरथी आदि। ठीक इसी प्रकार हिन्दी भी कई जनपदीय एवं महाजनपदीय बोलियों और भाषाओं के मिलन का प्रतिफल है। जातीय विकास के साथ-साथ भाषा के विकास का इतिहास भी निर्मित होता रहता है। इसलिए, भाषा की विकास-कथा में किसी भी समाज का सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रतिबिम्ब झलक मारता है। हिन्दी जिस मध्य देश की उदार और पावन पुनीत धरती से उपजी है, उसी धरती ने भारत के व्यक्तित्व को 'वसुधैव कुटुम्बकम्' और 'सत्यमेव जयते' की गरिमा से मंडित किया है। यहाँ कई जनपदों और महाजनपदों का महासंगम है। इसी धरती के अनुरूप यहाँ की यह भाषा हिन्दी अनेकानेक भाषाओं, बोलियों की बहु-धाराओं के मिलन से गहरी, व्यापक और उदार बन गयी है।

भाषा-वैज्ञानिकों का मत है कि मानव-समाज जब कबीले के रूप में संगठित हो रहा होगा तभी उस प्रजाति की भाषा विकसित होने लग गई होगी। भाषा का निर्माण तो तभी हो गया होगा, जब लोग घुमन्तू जीवन व्यतीत करने के आदी थे। कृषि सभ्यता के आते-आते विभिन्न जनों की बोलियों अथवा भाषाओं ने एक निश्चित स्वरूप ग्रहण कर लिया होगा। इसमें हजारों-हजार साल लगे होंगे। इस क्रम में एक भाषा का दूसरे जन की भाषा पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। एक जन का दूसरे जन से सम्पर्क होता ही होगा, इसलिए एक दूसरे पर विचारों के आदान-प्रदान से प्रभाव का पड़ना भी अनिवार्य था। अतः भाषाओं के बीच भाषिक तत्त्वों की परस्परता ने सक्रिय होकर उक्त परिवर्तन को त्वरा दी।

कृषि सभ्यता के आविर्भाव के बाद विभिन्न व्यवसायों के कारण व्यापार की शुरुआत हुई होगी। व्यापार की प्रक्रिया तब तक पूरी नहीं हो सकती जब कोई बाजार न हो। इस बाजार के कारण विभिन्न भाषाओं और बोलियों के विकसित होने की सम्भावनाएँ उत्पन्न हो गई होंगी। बाजार एक ऐसा केन्द्र था जहाँ एक जनपद के लोग ही नहीं, विभिन्न जनपदों के लोग (जन) एकत्र होते होंगे।

ऐसी स्थिति में इन जनों में से किसी एक की भाषा अपनी तेजस्विता और क्षमता के आधार पर, अपने जनपद की सीमा का अतिक्रमण करके विभिन्न जनपदों की सम्पर्क-भाषा बन जाती होगी। संसार की जितनी भी समृद्ध और सशक्त भाषाएँ हैं उनका विकास काफी हद तक उक्त क्रम में हुआ है।

आचार्य दण्डी के अनुसार, "यह सृष्टि अंधकार में डूब गई होती, यदि वाणी का आविर्भाव न हुआ होता।" इस कथन में अतिशयोक्ति हो सकती है, किन्तु इसकी व्यंजना पर संदेह नहीं किया जा सकता। भाषा हमें एक-दूसरे से जोड़ती है। इसके माध्यम से हम, न केवल अपने परिवार और समाज से जुड़ते हैं, बल्कि, अपनी पहचान भी स्थापित करते हैं। भाषा हमारे मानवोचित गुणों और बुद्धि के विकास में स्वाभाविक रूप से सहायक सिद्ध होती है। भाषा के माध्यम से हम केवल अपने विचारों का आदान-प्रदान ही नहीं करते हैं, बल्कि हमारा आन्तरिक चिन्तन भी भाषा की सहायता से ही सम्भव होता है। यही कारण है कि जातीय संस्कृति और उनकी भाषा में गहरा सम्बन्ध है।

भारत में ये चार भाषा-परिवार हैं—आर्य भाषा परिवार, द्रविड़ भाषा परिवार, कोल भाषा परिवार और नागा भाषा परिवार। 1931 की जनगणना के अनुसार आर्य भाषा-भाषी 73 प्रतिशत, द्रविड़ भाषा-भाषी 20 प्रतिशत, निषाद (कोल) आर्य भाषा-भाषी 1.3 प्रतिशत और किरात (नागा) भाषा-भाषी 0.85 प्रतिशत थे। 1961 की जनगणना के अनुसार 1200 भाषाओं को मातृभाषा बताया गया था। इन भाषा परिवारों में काफी भिन्नता रही है। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि एक भाषा-परिवार का दूसरे भाषा-परिवार पर प्रभाव बिल्कुल नहीं पड़ा। भाषा-वैज्ञानिकों के अनुसार द्रविड़ भाषा परिवार की बहुत-सी ध्वनियाँ भारत-यूरोपीय भाषाओं में परिलक्षित होती हैं, इसलिए यह कहना ठीक नहीं होगा कि आर्य भाषा परिवार और द्रविड़ भाषा परिवार में पूरी तरह भिन्नता है। इसी प्रकार पश्चिमोत्तर भारत में द्रविड़ भाषा परिवार के मूल लक्षणों या अवशेषों के प्रमाण मिले हैं। इधर बहुत से विद्वानों ने आर्य-द्रविड़ भाषाओं की मूलभूत एकता विषयक अपने अध्ययन में अन्य भारतीय भाषाओं की प्रकृति और प्रवृत्ति को अन्वेषित किया है। भारतीय भाषाओं की पारस्परिक एकता और भारतीय भाषाओं के साथ विश्व की अनेक भाषाओं—जैसे ग्रीक, हिब्रू, लैटिन, जर्मन, रूसी आदि—के तुलनात्मक अध्ययनों में हिन्दी के साथ अनेक भारतीय और विदेशी भाषाओं की समानता के प्रामाणिक साक्ष्य मिलते हैं। रॉबर्ट कॉडवेल ने अपनी विख्यात पुस्तक 'ए कॉम्परेटिव ग्रामर ऑफ़ दि ड्राविडियन ऑर साउथ इंडियन फैमिली ऑफ़ लैंगुएजेज' में अन्य भारतीय द्रविड़ भाषिक तत्त्वों के प्रामाणिक साक्ष्यों का उल्लेख किया है (पृ० 565-624)। कॉडवेल ने संस्कृत अथवा भारतीय आर्यभाषाओं की समान-

शब्दावली या द्रविड़ से आगत जिन शब्दों का उल्लेख किया है, उनमें कुछेक इस प्रकार हैं : अम्ब-अम्बा, अलि कला, कुटी, नाना (विभिन्न) नीर, पट्टन पल्ली, भाग, मीन, वलय, घोट चम्पक, फल आदि । इसी प्रकार अगर अरबी-फारसी के साथ हिन्दी की तुलना करें तो किंचित् भेद से उक्त भाषाओं की विशाल समान शब्दावली के उदाहरण मिलेंगे। जर्मन विद्वान पौलहीर्न ने लगभग ऐसे डेढ़ हजार शब्दों के उदाहरण दिए हैं जो किंचित् भेद से फारसी और हिन्दी (संस्कृत) में समान हैं, जैसे—अस्पर (फ़ा०)—अश्व, नाभ (फ़ा०)—नाभि, नर (फ़ा), नर, मादा (फ़ा०)—माता, कबूतर (फ़ा०)—कपोल, किरन (फ़ा०)—कृमि, हप्त (फ़ा०)—सप्त, खुदा (फ़ा०)—स्वधा आदि ।

प्राचीन काल से भारत का मध्यदेश धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक कार्य-कलापों का प्रमुख केन्द्र रहा है। मध्यदेश वास्तव में वह भौगोलिक इकाई थी, जिसकी प्रतिष्ठा वैदिक सांस्कृतिक एकता के आधार पर हुई। यह भौगोलिक क्षेत्र हिमालय और विन्ध्याचल के बीच में व्याप्त था। बीकानेर (जहाँ सरस्वती अन्तर्धान हुई) से लेकर गंगा-यमुना और बिहार में सदानीरा (गंडकी) तक के क्षेत्र इसकी सीमा में आते थे। इसी मध्य देश में भारत की विभिन्न सशक्त भाषाओं—छान्दस, संस्कृत, पालि, प्राकृत, शौरसेनी, अपभ्रंश आदि, का निर्माण हुआ। यही राम, कृष्ण, महावीर और बुद्ध की जन्मभूमि थी और यहीं वेदों और ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना हुई।

कहा गया है कि सबसे प्राचीन ग्रन्थ 'ऋग्वेद' की रचना पश्चिमोत्तर भारत में शुरू हुई और गंगा-यमुना के दोआब में आकर पूरी हुई। इस ग्रन्थ की भाषा को छान्दस अभिधान दिया गया है। कुछ विद्वानों का मत है कि चूँकि 'ऋग्वेद' छन्द में लिखा गया है, इसलिए इसकी भाषा को भी छान्दस कहा गया है। भाषाविदों के अनुसार, प्रत्येक युग में परिनिष्ठित भाषा के समानान्तर कोई न कोई विकासशील लोकभाषा भी विकसित होती रहती है। भाषा तभी तक चहुँमुखी विकास कर पाती है जब तक उसका सम्पर्क आम जनता से रहता है। जीवित भाषा निरन्तर बदलाव की प्रक्रिया से गुजरती है। व्याकरण की मर्यादाओं में आबद्ध होने के बाद परिनिष्ठित अथवा साहित्यिक भाषा जनता की व्यावहारिक बोली से दूर होने लगती है, क्योंकि वह लोक भाषाओं के रचनात्मक शब्द-भण्डार से ऊर्जा ग्रहण करने में असमर्थ हो जाती है। इसलिए कुछ विद्वानों का मत है कि छान्दस के समानान्तर लोकभाषा रूप में कभी न कभी संस्कृत अवश्य प्रचलित रही होगी। इस मान्यता से कुछ विद्वानों का मतभेद है। डाक्टर सुनीति कुमार चाटुर्ज्या और पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी जैसे विद्वानों के अनुसार यह मूल भाषा प्राकृत रही होगी। प्राकृत का संस्कार करके ही 'संस्कृत' भाषा का निर्माण हुआ होगा। यहाँ एक बात निश्चित-सी है कि परिनिष्ठित अथवा साहित्यिक भाषा

आम बोलचाल की भाषा के सहज रचाव और ताजा मुहावरेपन की पहचान नहीं बना पाती।

भगवान बुद्ध के आविर्भाव के समय संस्कृत एक परिनिष्ठित भाषा के रूप में सम्पूर्ण आर्यावर्त में फैल चुकी थी। भगवान बुद्ध के अनुयायियों ने उनके उपदेशों के प्रचार-प्रसार के लिए संस्कृत को माध्यम न बनाकर, पाली भाषा को ही उपयुक्त समझा। इसका मात्र कारण यही था कि पाली उन दिनों सर्वव्यापी लोकभाषा थी। बौद्ध धर्म का माध्यम बनकर यह भाषा भारत के बाहर अन्य देशों (लंका, चीन, ब्रह्मा (बर्मा) आदि) में भी जा पहुँची। पाली भाषा के मर्यादित होने के बाद प्राकृत शौरसैनी और अपभ्रंश जैसी लोक भाषाओं का परिनिष्ठित भाषा के रूप के विकास हुआ और कालान्तर में दसवीं सदी के आस-पास नव्य भारतीय आर्य भाषाओं का आविर्भाव हुआ। इन नव्य भारतीय आर्य भाषाओं ने दसवीं से चौदहवीं सदी के बीच अपना प्रामाणिक स्वरूप ग्रहण कर लिया था। इन भाषाओं में प्रमुख थी हिन्दी, बंगला, गुजराती, मराठी, पंजाबी, असमिया, उड़िया, सिन्धी आदि। देश के मध्यवर्ती मध्यदेश की प्रमुख भाषा के रूप में हिन्दी को प्रतिष्ठा मिली। यह विभिन्न जनपदीय भाषाओं की वाचिकता और भावात्मक अभिव्यक्ति द्वारा प्रवहमान बनी रही।

भाषा के रूप में 'हिन्दी' नाम का एक इतिहास है। समस्त भारतीय भाषाओं के लिए अरबी-फारसी में 'हिन्दवी' शब्द का उल्लेख छठी शताब्दी के बादशाह नौशेरवाँ (531-579 ई०) के दरबार में रहने वाले विद्वान हकीम बजरोया की पुस्तक में मिलता है। हकीम बजरोया ने 'पंचतंत्र' का अनुवाद 'कलीला व दिमना' (करटक व दमनक) नाम से किया था। इस पुस्तक की भूमिका नौशेरवां के मन्त्री बुजर्च मिहिर ने लिखी थी। उन्होंने भारतीय भाषाओं के लिए 'हिन्दवी' शब्द का पहले-पहल प्रयोग किया था। कुछ विद्वानों का मत है कि भारत में, पहली बार, अमीर खुसरो ने चौदहवीं सदी में मध्यप्रदेश की भाषा के लिए हिन्दी शब्द का प्रयोग किया। किन्तु हम देखते हैं कि खुसरो के बहुत बाद कबीर, जायसी, तुलसीदास, केशवदास आदि महाकवियों ने मध्य देश की सार्वदेशिक भाषा ('हिन्दी') के लिए केवल "भाषा" शब्द का ही प्रयोग किया। उदाहरण के लिए :

"संस्कृत कबिरा कूप जल, भाषा बहता नीर" (कबीर), "आदि अन्त जसि कथा अहै, लिखत भाषा चौपाई कहै।" (जायसी), "भाषा भनति मोर मति थोरी" (तुलसीदास) आदि उद्धरणों को लिया जा सकता है।

हिन्दी की सार्वदेशिकता सर्वथा उल्लेखनीय है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि खड़ी बोली हिन्दी के आदि कवि अमीर खुसरो का जन्म सन् 1253 ई० में उत्तर प्रदेश के एटा जिले में हुआ था। इनके पिता तुर्की के किसान थे। जाहिर है, इनकी मातृभाषा न तो हिन्दी थी और न फ़ारसी। यह भी अजीब बात है कि

बाहर से आने वाले तुर्क, पठान या मुगल में से किसी की मातृभाषा फ़ारसी नहीं थी। किन्तु इन लोगों ने भारत में शासन स्थापित करने के बाद फ़ारसी को ही राजभाषा बनाया। क्योंकि उन दिनों फ़ारसी का सांस्कृतिक प्रभुत्व ईरान के साथ अरब और अफ़गानिस्तान में भी स्थापित हो गया था। इससे यह सिद्ध होता है कि भाषा का सम्बन्ध धार्मिक विश्वास की अपेक्षा संस्कृति के साथ गहरे रूप में जुड़ा हुआ है। ऐसा नहीं होता तो उन सभी देशों की राजभाषा अरबी होती, जहाँ मुसलमानों का शासन था। अमीर खुसरो ने फ़ारसी और संस्कृत के अतिरिक्त हिन्दी में भी रचनाएँ की थीं। उनकी पहेलियाँ और मुकरियाँ आज तक हिन्दुस्तान की जुबान पर चढ़ी हैं। अमीर खुसरो निजामुद्दीन औलिया के शिष्य थे और जब उन्होंने औलिया के निधन का समाचार सुना तो दुख से व्यग्र होकर यह लोकप्रिय दोहा लिखा :

"गौरी सोवत सेज पर मुख पर डारे केस
चल खुसरो घर आपनों, रैन भयो चहु देस"

निश्चय ही आज की हिन्दी में और खुसरो की इन पंक्तियों में बहुत अन्तर नहीं है। मध्यदेश की लोक भाषा हिन्दी का प्रभाव महाराष्ट्र और गुजरात तक जा पहुँचा था। महाराष्ट्र के संत ज्ञानेश्वर (1275-96) की ये पंक्तियाँ, इस प्रसंग में सर्वथा द्रष्टव्य हैं :

"सब घट देखा माणिक मौला, कैसे कहूँ मैं काला धवला।
पंचरंग से न्यारा कोई, लेना एक और देना दोई।।"

महाराष्ट्र के सन्त ज्ञानदेव जी के साथ और गुजरात के नरसिंह मेहता ने भी इस भाषा में भजन लिखे। मध्यदेश की यह भाषा महाराष्ट्र के सन्तों तक ही सीमित नहीं थी, बल्कि 'तमाशा' नामक लोक नाट्य के माध्यम से यह आम जनता तक जा पहुँची थी। 'तमाशा' का एक पात्र छड़ीदार की भाषा का नमूना इस प्रकार है :

"छड़ीदार—हम छड़ीदार, पोशाक पेना (पहना) जड़ीदार, गले में डाला भाव मोतिन का हार, ज्ञान-ध्यान की बाँधी तलवार भगवान् के नाम को पुकारूँ ललकार, ये ही हम छड़ीदार कहलाते हैं।

पाटील—तुमने कहाँ नौकरी बनाई ?

छड़ीदार—दश अवतार में।

पाटील—कौन-से दश अवतार में ?

छड़ीदार—मच्छ, कच्छ, वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बौद्ध, कलंकी ऐसे महाराज के दश अवतार में नौकरी बनाई।"

माना तो यह जाता है कि महाराष्ट्र में हिन्दी-वाणी महानुभाव पंथ के चक्रधर (1194-1273) के माध्यम से ही पहुँच गई थी। बंगाल में प्रचलित 'ब्रज

बुली' मैथिली और व्रजभाषा के मिलन से विकसित हुई। डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या के अनुसार तुर्क लोगों के आने से पहले बंगाल में मातृभाषा के अलावा 'शौरसेनी' या 'पछाईं' अपभ्रंश में भी वहाँ के बौद्ध या ब्राह्मण धर्म के कवि कविता रचते थे। बंगाल से पठान हुकूमत की समाप्ति के बाद और मुगल राज्य के प्रचार-प्रसार के साथ ही बंगाल में हिन्दी को बहुत बढ़ावा मिला। डा० चाटुर्ज्या ने 1948 में पेरिस की एक सभा में, हिन्दी की वकालत करते हुए कहा था कि इसे राष्ट्र संघ की भाषा बनाना चाहिए। न जाने बाद में चलकर चाटुर्ज्या महोदय को क्या हुआ कि उन्होंने हिन्दी का अविश्वसनीय विरोध करना शुरू किया।

गुरु गोरखनाथ ने अपने धर्म का प्रचार करने के लिए जिस साधुभाषा का उपयोग किया, वह हिन्दी ही थी। क्योंकि उसी भाषा के माध्यम से देश के विभिन्न क्षेत्रों तक विचारों का आदान-प्रदान किया जा सकता था। आज भी दक्षिण के नाथपंथी मठों में हिन्दी की पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हैं। केरल में उस भाषा को 'गोसाईं भाषा' के नाम से पुकारा जाता था। सच तो यह है कि दक्षिण में ही आधुनिक हिन्दी का लालन-पालन हुआ। अलाउद्दीन खिलजी के दक्षिण अभियान के क्रम में और तुगलक द्वारा राजधानी परिवर्तन (दिल्ली से देवगिरि) के कारण दिल्ली के बहुत से हिन्दीभाषी दक्षिण जा पहुँचे और वहीं बस गये। इन लोगों के साथ जो भाषा 'हिन्दवी' के नाम से दक्षिण में गई वह वहाँ 'दक्खिनी' नाम से प्रचलित हुई। दक्षिण में बहमनी साम्राज्य ने उसी हिन्दवी को राजकाज की भाषा बनाया। अकबर के शासन से पहले तक, दक्षिण में निवास करने वाले मनीषियों, कवियों या सूफियों ने इसी भाषा में अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कीं। इस भाषा में मध्यदेश में बोली जाने वाली विभिन्न भाषाओं के शब्द भण्डार उदारतापूर्वक शामिल किये जाते थे। आश्चर्य है कि जिस हिन्दी का उद्भव और विकास उत्तर भारत में हुआ और तमाम उत्तर भारत के संतों, सूफियों और मनीषियों ने अपने विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया, उस हिन्दी को दिल्ली के शासकों ने राजभाषा का दर्जा नहीं दिया। यह दर्जा हिन्दी को दक्षिण में मिला।

हिन्दी अपने उद्भव-काल से ही विभिन्न प्रदेशों की सम्पर्क भाषा के रूप में प्रयुक्त होने लगी थी। मुगल शासन के दिनों में फारसी बेशक राजभाषा बनी रही। किन्तु शासकों के महलों में हिन्दी ही बोलचाल की भाषा थी। जब औरंगजेब ने शाहजहाँ को जेल में डाल दिया तब शाहजहाँ ने अपना दुख हिन्दी के इस सवैये में व्यक्त किया था :

"जन्मत ही लख दान दियो, अरु नाम रख्यौ नवरंग बिहारी।
बालहिं सो प्रतिपाल कियौ, अरु देस मुलुक्क दियौ बल भारी॥
सो सुत बैर बुझे मन में, धरि हाथ दियौ बँध सार में डारी॥"

भारत में अंग्रेजी हुकूमत स्थापित हो जाने के बाद अंग्रेज अफसर हिन्दी सीखते थे, ताकि वे आम लोगों से सम्पर्क स्थापित कर सकें। दिल्ली के असिस्टेंट रैजीडैंट, मैटकाफ ने भी हिन्दी सीखी थी और उसने अपने गुरु गिलक्राइस्ट को पत्र लिखकर सूचित किया था कि वह भारत मे जहाँ कहीं भी गया, हिन्दी की जानकारी होने के कारण उसे लोगों से सम्पर्क स्थापित करने में कोई कठिनाई नहीं हुई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्यदेश की जो हिन्दी दसवीं सदी के आस-पास शूरसेन प्रदेश (मथुरा के आस-पास) में बोली जाती थी, वह विकसित होते-होते इतनी सक्षम और प्रांजल हो गई कि उसे भारत के विभिन्न प्रदेशों की सम्पर्क भाषा के रूप में सहर्ष स्वीकार कर लिया गया। आज यदि हम देश के संचार अथवा सिनेमा जैसे लोक मनोरंजन को एक मापदण्ड मानें तो इससे यह सिद्ध होता है कि भारत की अधिकांश जनता सबसे अधिक हिन्दी को लिखती, बोलती और समझती ही नहीं है, बल्कि इसे प्यार करती है। सन् 1951 की जनगणना के अनुसार भारत में जितनी भी फिल्में बनती थीं, उनमें आधी से अधिक केवल हिन्दी भाषा में और शेष भारत की अन्य सभी भाषाओं में बनती थीं।

जब हमें अपने देश की महान विरासत को सही तरीके से याद करते हैं तब हम 'वेद,' 'उपनिषद,' 'रामायण,' 'महाभारत,' 'गुरुग्रन्थ' आदि गौरव ग्रन्थों का नाम लेते हैं। संत तुलसीदास, कबीर, सूरदास, कुतुबुन, मञ्झन, जायसी, रसखान आदि महाकवियों के छन्दों को गुनगुनाकर रोमांचित हो उठते हैं, किन्तु जब राष्ट्र-भाषा हिन्दी का प्रसंग आता है तो कुछ क्षेत्रों में आवाज उठती है कि यह भाषा अभी विकसित नहीं है। इस स्थिति को हम एक विडम्बना ही मानेंगे। किसी भी भाषा के निर्माण, विकास और उसके प्रतिष्ठापन में आम लोगों का प्रमुख हाथ रहता है। गांधी जी ने इस सत्य का अनुभव दक्षिण अफ्रीका में किया। वहाँ भारत से गये हुए तमिल, तेलुगु, बिहारी, गुजराती मजदूर जब आपस में मिल-बैठकर बातें करते थे, तो उनकी भाषा एक तरह की हिन्दी ही होती थी। मौरिशस में भी गांधी जी को यही अनुभव हुआ। यहाँ भारत से, विशेषकर बिहार से, काफी संख्या में मजदूर जाकर बस गये थे। ऐसी ही जनभाषा या राष्ट्रीय एकता की भाषा के प्रति एक सच्चे भारतवासी के रूप में राष्ट्रपिता ने अपनी अन्तरात्मा की आवाज से प्रेरित होकर कहा : "इस वस्तुस्थिति को ध्यान में रखते हुए कि भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में बहुत बड़े पैमाने में लोग हिन्दी का प्रयोग करते हैं और बहुसंख्यक लोग उसको आसानी से समझ सकते हैं, इसको भारत की सर्वमान्य भाषा बनाना व्यावहारिक प्रतीत होता है।"

आज भी स्थिति वही है। दूर-सुदूर दक्षिण के तमिलनाडु या केरल का जन-मन हरिद्वार में बद्री-विशाल की महिमा का गीत गाता सुनाई पड़ता है इसी

भाषा में । कच्छ की जनता कामरूप में कामाख्या के चरणों में अर्घ्य चढ़ाती है तो इसी हिन्दी भाषा में जयघोष करती है । बिहार-बंगाल की भोली-भाली जनता कन्याकुमारी की पूजा-अर्चना करती हुई वहाँ के बन्धुओं से इसी भाषा में कुशल-क्षेम पूछती है । ऐसी राष्ट्रवाणी, ऐसी मुहब्बत की जुबान ऐसी जोड़ने वाली संगम भाषा के इस्तेमाल के लिए किसी को भारत में दुभाषिए की जरूरत नहीं पड़ती । विशाल भारत देश की अखंडता की नींव मजबूत है तो इन्हीं प्यारी जनता की आध्यात्मिक, भाषाई सांस्कृतिक एकता के कारण । विश्व भाषा के रूप में हिन्दी का दावा या सिद्धि हिन्दी की उक्त विशेषता और गुणात्मक शक्ति का परिचायक है । चीनी, हिन्दी और अंग्रेजी संसार की उन भाषाओं में है जिनके बोलने वाले संसार के अन्य भाषा-भाषियों से अधिक हैं । आज हिन्दी भी सूक्ष्म विकार शहरी संवेदना और ज्ञान-विज्ञान के तर्कपूर्ण विश्लेषण को सही अभिव्यक्ति देने में समर्थ है । अन्य भाषा के कुछ विद्वान हिन्दी के प्रति अपने अज्ञान को हिन्दी की असमर्थता का पर्यायवाची मान लेते हैं । यह उनकी भारी भूल या भ्रम है । टाई के लिए 'कंठ-लंगोटी' और स्टेशन के लिए 'धूम्र शकट विश्राम स्थान' न हिन्दी के सच्चे कंठ के शब्द हैं और न हिन्दी के सही मुहावरे से रचे प्रयोग । ये हिन्दी को बदनाम करने वाले राष्ट्रविरोधी जुमले हैं । हिन्दी ने सदा अपनी सभी बहनों को प्यार दिया है और उनका प्यार लिया है । इसलिए यह राष्ट्रभाषा जन-जन, गाँव, गँवई और देश की कोटि-कोटि बहुभाषी जनता के प्रेम की भाषा बन गयी है । यदि हमारा स्वराज्य अंग्रेजी पढ़े भारतवासियों का है और केवल उनके लिए है तो सम्पर्क भाषा के रूप में अवश्य अंग्रेजी कायम रहे । यदि वह भारत के करोड़ों भूखे, निरक्षर और सताये हुए लोगों के लिए है तो सम्पर्क भाषा का काम केवल हिन्दी ही कर सकती है । इसे सम्पर्क भाषा इसलिए भी कहते हैं कि यह राष्ट्रीय स्तर पर बहुभाषी देशवासियों के बीच सम्पर्क कराती है और देश की बहुभाषिकता का सम्पर्क कराती हुई राष्ट्रीयता को धारा को ओज और ऊर्जा देती है । □

दो

शिक्षा : चरम मूल्यों की तलाश

सभ्यता का विकास और मानव-इतिहास हमें गतिशील चिन्तन, अभिमुखी शिक्षण और प्रतिबद्ध कर्तव्य की प्रेरणा देते हैं। मनुष्य होने के कारण हमें वातावरण से समायोजन ही नहीं करना है, वरन् उसे बदलना भी है। एक अर्थ में उसका संस्कार भी करना है। आज संसार में पहले से भी अधिक क्रांतिकारी घटनाएँ हो रही हैं। विज्ञान, औद्योगिकी, अभियांत्रिकी आदि के साथ समाज-विज्ञान एवं मानविकी के क्षेत्रों में युगान्तकारी विचार, प्रविधियाँ आदि विकसित हो रहे हैं। हर क्षेत्र में रूपान्तरण हो रहा है। इसलिए इस द्रुत परिवर्तन के साथ कदम से कदम मिलाकर चलने के लिए देश के सभी शिक्षण-संस्थाओं को भी अपनी शिक्षा-प्रणाली को चुस्त-दुरुस्त करने के ठोस कार्यक्रम बनाने पड़ते हैं।

शिक्षण-संस्थाओं का मुख्य लक्ष्य होता है—ज्ञान-विज्ञान तथा संस्कृति की शाखाओं का विकास करना और उच्च शिक्षा तथा शोध का उन्नयन करना। विद्या-केन्द्र मुक्त वातावरण के आग्रही होते हैं। दरअसल हमारी शिक्षा-सम्बन्धी सारी योजनाएँ इस लक्ष्य से

संचालित होनी चाहिए कि हम खुद क्या बनना चाहते हैं और हमें किस तरह का समाज बनाना है। आज, भारत में हम जिस गणतंत्र का विकास कर रहे हैं, वह मानवीय समानता एवं गौरव सम्बन्धी मूल्यों पर आधारित है। इसलिए इन मूल्यों को भी शिक्षा द्वारा राष्ट्रीय जीवनी-शक्ति में परिणत करना चाहिए। इन्हें हमारे भविष्य-दर्शन में भी इसे स्पन्दित रहना चाहिए। आज एक ओर हमें अपने ज्ञान का विकास तथा प्रसार करना है, तो दूसरी ओर गरीबी, भूख, बीमारी, सामाजिक अन्याय आदि से पीड़ित राष्ट्रीय मानवता को 'मनुष्य' होने का गौरव प्रदान करना है। इसलिए नये भारत के इन ज्ञानतीर्थों को भी चित्तविलास के साथ प्रकार्यात्मक तथा जीवनमुखी शिक्षा के लिए सक्रिय होना होगा। तात्पर्य यह कि शिक्षा के चरम लक्ष्य को हमें गहरे सन्दर्भ से जोड़ना होगा।

शताब्दियों से ही ज्ञान-गुरु भारत अपनी विचारणा, साधना और आराधना में एक परिपूर्ण सत्ता में आस्था रखता आया है। हमारे यहाँ 'पूर्ण इदं' की प्राप्ति के लिए अनेक मार्गों की स्वीकृति दी गई है। फलस्वरूप यहाँ हमारी शिक्षा के लक्ष्यों को भी 'परिपूर्णता' के वास्तविक अनुभव और आचरण से जोड़ दिया गया है। परिपूर्णता की अवधारणा, पूर्वाग्रहों से मुक्त मानस में ही उपजती है। इसीलिए कहा गया है : 'सा विद्या या विमुक्तये'। 'परिपूर्णता' की भावना से हम अपने व्यक्तित्व और अस्तित्व को आधारभूत अर्थ देते हैं। इसके कारण हम अपने को सभी क्षुद्रताओं-सीमाओं की जड़ता से मुक्त करते हैं और एक आध्यात्मिक संवेदनशीलता को पाकर अपने 'होने' को सार्थक कर देते हैं। शिक्षण-संस्थाओं के परिसर, शिक्षक, ग्रंथ, पाठ्यक्रम आदि ये सभी शैक्षणिक कार्यक्रम उसी मुक्त तथा परिपूर्ण सत्ता की ओर विद्यार्थियों के मानस को तोड़ते हैं। उसे ही अपने मन तथा हृदय में अन्वेषित करने और सामाजिक जीवन में प्रकट करने के लिए ही 'शिक्षा' की जरूरत होती है। इसके लिए नीरस उपदेश या केवल 'कनफौरमेटिव लेक्चर', या इश्तहारों से काम नहीं चलता। 'परिपूर्णता' की सही अवधारणा अनुभव और आचरण द्वारा ही हो सकती है। आचार्यगण अपने उच्चतर विचार और व्यवहार के प्रतिमानों से आधुनिक युवा-शक्ति को शिक्षित और प्रशिक्षित कर सकते हैं।

जीवन, अवसरों की क्रमिकता का नाम है। हर शख्स की जिन्दगी में आगे बढ़ने और ऊँचाई पर जाने का मौका आता है। जब भी ये आएँ उनका सही-सही फायदा उठाना चाहिए। उपनिषद् कहती है कि सफलता के दो घटक हैं : मानवीय प्रयत्न और ईश्वर का आशीष। दुनिया में इन्सान के लिए कोई काम या कोई विद्या छोटी-बड़ी नहीं होती। अपने उद्देश्य के प्रति हमारी निष्ठा, लगन और प्रतिबद्धता ही हमारे उन कामों को छोटा-बड़ा बना देती है। इसलिए चाहे हम विज्ञान पढ़ें, कला के छात्र हों या वाणिज्य के फन में उस्तादी हासिल करें—इससे बहुत अन्तर नहीं आता। हमारी कोशिश मगर यही रहे कि हम अपने-अपने विषयों

में ऊँची से ऊँची जगह हासिल करें। इसके लिए हममें लक्ष्य के प्रति अटूट निष्ठा का होना जरूरी है। यह निष्ठा या ईमानदारी अपने आप में बड़ा पुरस्कार है। महानता, योग्यता और अवसर के संयोग का परिणाम है। इन दोनों के लिए हर आदमी इल्म और तालीम की खोज में स्कूल-कालेजों में प्रवेश करता है। कहते हैं, हर खुदी में खुदाई रहती है। यह खुदाई दरअसल एक उच्चतर प्रयोजन है। इस-लिए कि यह हमें अन्धकार से निकालकर प्रकाश में पहुँचा देती है। यह खंडों को तोड़कर अखंडता का अनुभव कराती है। अधूरेपन से हमें उबारकर परिपूर्णता से अभिषिक्त कर देती है। इस प्रकार खुदाई ही चरम सत्य है और वह अपनी परि-पूर्णता तथा स्वतन्त्रता में ही महान होती है। फलस्वरूप हमारी शिक्षा भी उसी 'सत्य' के विविध रूपों और स्तरों को निरन्तर प्रकाशित करने के लिए कई प्रकारों से प्रयत्नशील रहती है। ये ज्ञान-विज्ञान और कला आदि के विभाग, एक दूसरे से अलग-थलग नहीं हैं। ये ऐसे भिन्न रास्ते हैं, जो आदमी को उसकी रुचि, योग्यता, स्वभाव आदि के अनुसार एक ही मंजिल तक ले जाते हैं। निस्सन्देह यह मंजिल है—सत्य की अखंडता और परिपूर्णता की प्राप्ति। यही कारण है कि ज्ञान की साधना में 'सत्य' के विविध बिम्बों को समझने के लिए बार-बार शिक्षा की दिशा; दृष्टि और पद्धति में परिवर्तन-परिवर्द्धन करना होता है। यथाशक्ति उस परिपूर्णता के प्रकाश को पकड़ने के लिए सत्य की निरन्तर उपासना और साधना करनी पड़ती है।

आधुनिक काल में भी शिक्षा की नीति और पद्धति में परिवर्तन किये जा रहे हैं। शोध-प्रतिष्ठानों और संकायों के विकास-सम्बन्धी कार्यक्रमों में उसी सत्य की परिपूर्णता को पाठ्यक्रमों के अतिरिक्त अन्य और साधनों तथा विकसित प्रसंगों द्वारा प्रकाशित और प्राप्त करने के उपयुक्त माध्यम और अवसर निरन्तर निर्मित किए जा रहे हैं। ऐसे प्रसंगों में विद्यार्थी ज्ञान-प्राप्त करने की पाठ्य-क्रमीय शुष्कता और ज्ञान के शाखात्मक विभाजन की कृत्रिमता से मुक्त होकर ज्ञान को उसके अखंड, मुक्त और परिपूर्ण स्वरूप में पाने की सही मानसिकता प्राप्त करता है। 'तत्त्व-चिंतन' के लिए ऐसे साधन बहुत उपयुक्त होते हैं। हमारे देश की शिक्षा-पद्धति प्राचीन होकर भी असंगत नहीं है। इसमें सदा नये विचारों तथा तथ्यों को समाहित करने और इन्हें निरन्तर क्रमबद्ध रूप से ज्ञान की उच्चतर भूमिका पर प्राप्त करने की संभावना बनी हुई है। यही कारण है कि भारत ने गणित, चिकित्सा, स्थापत्य आदि में भी मौलिक अनुसन्धान किये। यह महान देश अध्यात्म-विद्या में तो सर्वो-परि सिद्ध हुआ। भारत 'अद्वैत' में विश्वास करता है। वह ज्ञान के प्रकाश को 'इनक्लूसिव' मार्ग से प्राप्त करता है। यहाँ विज्ञान, वाणिज्य एवं कला—इन सभी की शिक्षा को समान महत्त्व दिया गया है। ये सभी भारतीय चिन्तन में सत्य की परिपूर्णता एवं अखंडता के प्रकार हैं। विज्ञान पदार्थ, ऊर्जा, भौतिक नियमों आदि

के प्रसंग में सृष्टि का विश्लेषण और वर्णन करता है। किन्तु दर्शन एवं कलाएँ सृष्टि के पदार्थ के बदले उसके परमार्थ को सौन्दर्य की मोहक तथा रहस्यमयी अभिव्यक्ति में प्रतिभासित करते हैं। ये सभी विद्या-शाखाएँ हिल-मिलकर सृष्टि के रहस्य, सामाजिक जीवन के प्रकार, मानव-मूल्य आदि को सत्य की परिपूर्णता का अभिन्न अंग बनाते हुए ज्ञान-दीपक के तले शिक्षण-परिसरों में युवा-मानस का संस्कार करती हैं। साथ ही ये शिक्षार्थियों की बौद्धिक तथा रागात्मक सत्ताओं को 'सत्य की परिपूर्णता' के प्रकाश में प्रदीप्त करती है।

विकासशील देश भारत के सामने अनेक प्रकार की समस्याएँ उपस्थित हो रही हैं। जैसे-जैसे यह विशाल देश प्रगति और निर्माण के सभी साधनों का उपयोग करते हुए आगे बढ़ रहा है, वैसे-वैसे कुछ बाहरी तथा भीतरी ध्वंसात्मक शक्तियाँ देश को कमजोर बनाने, बिखेरने का हरसंभव उपाय करती हैं। इन स्थितियों से राष्ट्र को उबारकर आगे बढ़ाने के लिए सबसे अधिक युवा शक्ति को संगठित और सुशिक्षित होना होगा। इसके लिए शिक्षण-संस्थाएँ सुनियोजित ढंग से अपनी भूमिका अदा कर सकती हैं। हमारे देश की मानवी शक्ति, भले कभी-कभी कुछ कारणों से भटक जाय, पर अपनी महान् सुदृढ़ राष्ट्रीय संस्कृति के मूल्यों को वह कभी नहीं भूल सकती है। युवा-ऊर्जा तो उच्छल तरंग या हहराती झंझा के रूप में भी प्रदर्शित होती है। इसलिए इसे सही ज्ञान, उचित वातावरण और मूल्यमुखी दिशा का प्रकाश प्रदान करना होगा। यह रचनात्मक उत्तरदायित्व अपेक्षाकृत शिक्षण-संस्थाओं पर सबसे अधिक है। इन्हीं संस्थाओं में हमारा वर्तमान युवा-मानस सत्य, सद्भावना और साधन का पाठ ही नहीं पढ़ेगा वरन् अपने भावी जीवन के यथार्थ प्रसंगों में इन मूल्यों को मन, वचन और कर्म में भी प्रकट करेगा। जो शिक्षा हमें अपने वर्तमान मसलों से जूझने और उन्हें सही समय पर सुलझाने के काम में नहीं आती, वह बोझ की तरह बेकार होती है। इस प्रकार शिक्षा के सभी आयोजनों तथा प्रसंगों को व्यक्ति या राष्ट्रीय समुदाय के व्यावहारिक जीवन से पूरी तरह जुड़ना होगा। हमारे इस महान गणतंत्र को निरन्तर सफल वैज्ञानिक, दूरदर्शी प्रबन्धक और उदारचित्त पथ-प्रदर्शक चाहिए। इसलिए कि हमें गरीबी, पूर्वाग्रह, बिखराव, परमुखापेक्षिता आदि से जूझने के लिए मजबूत दिल-दिमाग के ऐसे इन्सान चाहिए, जो एक साथ भारत के राष्ट्रीय तिरंगा को सदा ऊँचा उठाते रहें और पूरे विश्व में सहयोग, शांति और प्रेम की आवाज को बुलन्द करें।

हमारा यह नया भारत महान और ऐतिहासिक क्रांति की उपज है। यह महान क्रांति थी, इसलिए कि वह पूर्णतः शांतिपूर्ण और अहिंसक ही नहीं, वरन् लोकतंत्र के प्रति प्रतिबद्ध रही है। विश्व में जो भी उल्लेखनीय बौद्धिक, राजनीतिक और आर्थिक पहल हुए हैं, उनमें भारत की आजादी और उसको हासिल

करनेवाले तरीकों को बहुत महत्त्व दिया गया है। हम जानते हैं कि अन्य महान् देशों की तरह इस देश का सुन्दर भविष्य उन मनसूबों, सोच और संकल्पित कार्यों पर निर्भर करेगा, जिन्हें आज का भारत या यों कहें, अभी-अभी का भारत अपनी साधना और संघर्ष में प्रकट करेगा। देश को एक उच्चतर छवि देने का सबसे बड़ा साधन है—शिक्षा। और इस शिक्षा का सीधा सम्बन्ध राष्ट्र के बौद्धिक मानस से है। निश्चयपूर्वक शिक्षा को औजार बनाकर सही दिशा में देश को आगे बढ़ाने की जिम्मेवारी सरकार पर ही नहीं है। मैं समझता हूँ कि व्यावहारिक दृष्टि से शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है—वर्तमान पीढ़ी को अपने महान लोकतंत्र का उपयुक्त और अभिन्न अंग बनाना। एक लोक-कल्याणकारी राष्ट्र की जिम्मेवारी यह नहीं होती कि वह नागरिकों को केवल रोटी, कपड़ा और मकान मुहैया करे। सबसे अधिक गणतंत्र का सरोकार यह है कि वह प्रत्येक देशवासी के मन में भाईचारे की भावना विकसित करे। भारत में तो यही भाईचारापन आज राष्ट्रीयता की माँग बना गया है। हमारा देश विभिन्न भाषाओं, धार्मिक विश्वासों, प्रजापतिपरक लक्षणों आदि के ताने-बाने से बुना एक मजबूत और अद्भुत इकाई है। इसलिए 'लोकतंत्र के लिए शिक्षा' का नारा हम सबसे अधिक बुलंद करना चाहते हैं। जब राष्ट्र की बौद्धिकता और भावना लोकतंत्र की जड़ों से जुड़ेगी तो भारत की सही पहचान एकता में अनेकता के रूप में स्पन्दित होगी।

लोकतंत्र का अस्तित्व और उत्तरदायित्व उस व्यक्ति-मानव से सीधे नाता रखता है, जो किसी भी सभ्य देश में अपनी आशाओं, आकांक्षाओं और प्रयत्नों में आजाद दिल और दिमाग का एहसास कराता है। प्रत्येक व्यक्ति के विचार और भाव पूर्वग्रह से ग्रसित न हों तो व्यक्ति की आंतरिक सत्ता और स्वकीयता को प्रकट करते हैं। वस्तुतः हर आदमी का स्वभाव उसका एक ऐसा पवित्र पूजा स्थल होता है, जिसको वह खुद बनाता है या यों कहें, प्रत्येक आदमी की मान्यता में उसके अपने संघर्ष और विजय की गाथा अंकित रहती है। पावलोव नाम के विख्यात व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक ने मन के मूल में जाने की कोशिश की और कुत्तों पर प्रयोग किए। किन्तु, प्रयोग में लाये जाने वाले कुत्तों में एक कुत्ता ऐसा निकला जो प्रदत्त स्थिति में अनुकूल प्रतिक्रिया नहीं करता था। जब भी वह प्रयोग के यंत्र के सामने आता था तो वह गुर्राकर अपने नाखून से फर्श को कुरेदने लगता था। कुत्ते की इस प्रतिक्रिया को पावलोव ने 'फ्रीडम रिफ्लैक्स' कहा, अर्थात् जीव की स्वातंत्र्य-चेतना। यदि कोई व्यक्ति अपने स्वतंत्र अस्तित्व को पहचानने और मूल्य देने में प्रशिक्षित है, तो निश्चयपूर्वक वह मन, आत्मा और अपने प्रयत्नों में उस भीतरी समझ को विकसित करेगा, जिसके कारण वह दूसरे के अभयारण्य में कभी कोई बाड़ा नहीं लगायेगा। असहिष्णुता मूलतः अपवित्रता होती है। यह सच है कि जो पढ़े-लिखे होते हैं, किन्तु जिनमें प्रेम और सद्भाव नहीं होते, वे राक्षस बन जाते

हैं। वे बौद्धिक आक्रामकता आत्मिक भोंड़ेपन और हार्दिक शुष्कता के उदाहरण माने जा सकते हैं। यह संतोष और आह्लाद का विषय है कि हमारी नई शिक्षा-नीति में सामंजस्य, संतुलन और समन्वय पर ध्यान रखा गया है। इसके कारण विज्ञान, उद्योग और संस्कृति के आयामों पर मनुष्य का सर्वांगीण विकास संभव है।

हम इन बातों के साथ देश की बौद्धिक विरासत के सामने एक और प्रसंग रखना चाहेंगे। आज हमारे देश में एक विचारणीय द्वन्द्व अथवा तनाव दिखाई पड़ रहा है। वह है पुरानी एवं नई पीढ़ियों की सोच और समझ में बढ़ती हुई खाई। विख्यात इतिहासकार टॉयनबी ने फ्रांस के युवा आन्दोलनों के कारणों पर विचार करते हुए कहा है कि युवा आन्दोलन सतही परिस्थिति की ऊब से उपजकर भीतरी वास्तविकता से टकराना चाहते हैं और अपने निजी अनुभवों के आधार पर मूल्यों की तलाश करना चाहते हैं। आज भारत में भी प्रतिष्ठित मूल्यों एवं मान्यताओं पर आक्रमण हो रहा है। व्यक्ति और संस्थाओं के क्रिया-कलापों में मूर्त्तिभंजन, मोह-भंग और कभी-कभी सभी कुछ को अस्वीकार करने की मनोवृत्ति हावी हो रही है। अगर संदेह, अविश्वास और मूल्यहीनता की भयावह स्थिति से विशेषकर भावी पीढ़ी को बचाना है तो खासकर राष्ट्र की बौद्धिकता को प्रतिबद्ध होकर इस समस्या का समाधान ढूँढ़ना होगा। इसके लिए न अनावश्यक पश्चिमी सोच-विचार को उधार लेने और न देश की मिट्टी में शताब्दियों से बहुत गहराई में फैली हुई परम्परा की जड़ों को काटने की जरूरत है। हर देश अपने मौसम, मिट्टी, इतिहास और स्वभाव की प्रासंगिकता में अपने स्वकीय मूल्यों को पहचानता है या उनमें अपेक्षित परिष्कार और परिवर्तन लाता है। हम देश के बौद्धिक विचारकों से यह नहीं कहते कि आप नीत्से या सार्त्र को या यहाँ तक कि मैकियावेली से अपना वैचारिक सम्बन्ध न रखें। लेकिन अपने घर के कपिल, कणाद, शंकर और गांधी को ड्राइंग-रूम के सेल्फों की सजावट की वस्तु बनाकर, केवल हीन भावना या अंधानुकरण के कारण सदा पूरब की ओर पीठ न करें और न पश्चिम की ओर मुँह। क्योंकि बौद्धिकता का सुफल है विवेक, और विवेक का अवदान है—हमारी सम्यक् अंतर्दृष्टि। खासकर भारत की वर्तमान पीढ़ी को देश के पुनर्निर्माण और पूरी मानवता की सेवा के सही प्रसंगों के साथ शिक्षा की राहों को जोड़ना होगा। इसलिए हम आज के भारत की समस्याओं को सामने रखते हुए राष्ट्रीय शिक्षा की मंजिलों को तय करने की बहस पर जोर देते हैं। हमारे देश की युवा बौद्धिक ऊर्जा निश्चयपूर्वक महान् मूल्यों की तलाश करे, चरम सत्य को नये आयाम पर परिभाषित करे, पर तालीम के मामले में नये सिरे से पहल करने के लिए सबसे पहले उसे अपने वतन की सरजमीन पर खड़ा होकर अपनी मंजिलों की कारगर तलाश करनी होगी। □

तीन

बुद्धिजीवियों की भूमिका

शिक्षा-संस्था मानव-समुदाय के उच्चतर उत्तराधिकारों की संवाहिका होती है, और साथ ही होती है महान-मूल्यों की प्रसव-भूमि। शिक्षा अपनी पूर्णता में सर्वोच्च सत्य को धारण भी करती है और सत्य सम्बन्धी चिन्तन की पद्धति भी निर्धारित करती है। इसलिए शिक्षा के अभाव में समुदाय अज्ञानता के अन्धकार में डूब जाता है। उसका सारा अस्तित्व ही नष्ट हो जाता है। शिक्षा के बारे में कुछ विचारकों ने अनावश्यक रहस्यवादी होकर उसे वायवी मोक्षवादी धारणाओं से जोड़ा है। किन्तु मानवीय अनुभव और जैविक यथार्थ यह संपुष्ट करते हैं कि शिक्षा का सीधा सरोकार आदमी से होता है न कि बेजान चीजों से। फलस्वरूप शिक्षा का मुख्य उद्देश्य होता है—संपूर्ण मानव का निर्माण। अस्तित्ववादी विचारणा की भाषा में इस निर्माण-प्रतिरूप को 'है' से 'होना' कहा जा सकता है। विख्यात मनस्वी सार्त्र ने 'सत्त्व' (एसेन्स) और 'अस्तित्व' (एक्जिस्टेंस) की परस्परता में उक्त 'होना' (बीइंग) को परिभाषित किया है। सार्त्र की मान्यता है कि 'सत्व' वह वर्गीय चेतना है जिससे वस्तु का होना परिभाषित होता है

और अस्तित्व उक्त वस्तु के होने की चेतना को उसकी विशिष्टता, यथार्थता और क्रियात्मकता में अर्थवान बनाता है। सचमुच शिक्षा का बहुमूल्य योगदान यह होना चाहिए कि वह मनुष्य की सर्जनात्मकता को दृष्टि और दिशा दे। इसलिए कि यह मनुष्य है जो सृष्टि-रचना की प्रासंगिकता में अपनी अनिवार्य भूमिका व्यंजित करता है।[1] भारतीय तत्त्व-चिन्तन ने भी शताब्दियों पूर्व परम मूल्यों की खोज और आदमी द्वारा अपने आपकी सही पहचान सम्बन्धी अपूर्व खोजों में उपर्युक्त सन्दर्भों को अर्थवत्ता दी है। हमारे ऋषियों ने 'कोऽहम्', 'सोऽहम्', 'ओऽम् तत्सत' आदि की अद्भुत सूत्रात्मकता में मनुष्य की विजय-यात्रा के शिखरों को झंकृत किया है।

शिक्षा की सक्रियता और संचालन में एक 'त्रिक्' उभरता है। इस त्रिक् के तीन प्रमुख रचक विन्दु हैं—शिक्षक, विद्यार्थी और शिक्षण-प्रबन्धक। इन्हीं तीनों की समन्वित साधना के प्रकाश से शैक्षणिक संस्थानों का प्रांगण प्रकाशित होता है। इसलिए प्रत्येक देश और काल में मानव-समाज शिक्षा-साधकों के प्रति श्रद्धा व्यक्त करता है और इनसे अपनी अशेष जय-यात्रा के लिए समुचित पथ-प्रदर्शन की कामना करता है। राष्ट्र की उत्तरदायी सरकारें भी यथाशक्ति ज्ञान की ज्योति के धरोहरस्वरूप शिक्षकों के कर्त्तव्य-पालन और संतोषप्रद जीवन-यापन के लिए समर्पण भाव से सुविधा और साधन जुटाना अपना परम कर्त्तव्य मानती हैं। हमारे तपस्वी शिक्षक ज्ञान-गुरु होते हैं। ये राष्ट्र और सभी मानव-जाति के सर्वांगीण विकास के लिए बौद्धिक ऊर्जा प्रदान करते हैं। ये ही समाज को योग्य और उपयुक्त विद्यार्थियों द्वारा स्पन्दित मस्तिष्क, निर्मल हृदय और प्रशिक्षित कौशल प्रदान करते हैं। हम यह भी जानते हैं कि शिक्षा-संस्था के द्वार पर पग धरने वाला प्रत्येक विद्यार्थी पूर्णता-प्राप्ति की दिशा में एक प्रयोग होता है और वह होता है—मनुष्यता की विकास-यात्रा में उच्चतर उपलब्धि की संभावना। इन्हीं युवा-विद्यार्थियों पर पूरे देश और समाज का भविष्य निर्भर करता है।

---

1. कलात्मक सृजन के प्रसंग में सार्त्र की मान्यता है : One of the chief motives of artistic creation is certainly the need of feeling that we are essential in relationship to the world. If I fix on Canvas or in writing a certain aspect of the fields or the sea or a look on someones face, which I have by introducing order, where there was none, by imposing the unity of mind on the diversity of things. ('What is Literature, Why Write', English Trans. Chap. 2)

खास कर हमारे देश में महान् शिक्षकों और शिष्यों की शताब्दियों पुरानी आदर्श परम्परा रही है। ब्रह्मज्ञान की अद्‌भुत पिपासा के मूल संस्कार के भारतीय मिथ को उजागर करने वाला नचिकेता आज भी एक साथ हमारे लिए आदर्श और चुनौती बना हुआ है। इसी तरह गुरु-शिष्य के उच्च शिखरों के प्रतिमानों में हम रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द की पहली मिलन-कथा को याद कर सकते हैं। कहते हैं कि जब विद्यार्थी विवेकानन्द सच्चे गुरु की खोज में पहली बार रामकृष्ण के दरवाजे पर पहुँचे तब द्वार के पट बंद थे। घर के भीतर उस समय रामकृष्ण पत्नी के साथ भोजन कर रहे थे। विवेकानंद ने स्वभावतः दरवाजों को थपथपाया। तब भीतर से आवाज आई 'के तुमि'—(तुम कौन हो। इस जिज्ञासा के उत्तर में विवेकानंद बोले, "सेई तो आमि जानि ना" (यही तो मैं नहीं जानता।) निस्संदेह यह संदर्भ गुरु-शिष्य के सम्बन्ध की पवित्रता तथा आत्मीयता के साथ ज्ञान-साधना के चरम उद्देश्यों को संकेतित करता है। ज्ञानार्जन आत्मान्वेषण है, न कि आत्मारोपण। बुद्धि की साधना हम पर सुनिश्चित उत्तर-दायित्व डालती है। वह हमसे सत्य और असत्य की मध्यवर्ती रेखा को पहचानने की अपेक्षा रखती है। मूल्यहीन असंगत यथार्थ का ज्ञान होना जरूरी है। अगर हममें बौद्धिक ईमानदारी है, तो हममें उन तत्त्वों को जानने की अन्तर्दृष्टि और आचरण होने चाहिए, जो हमारी आस्था और आत्मा की आवाज के विरोधी होते हैं। इसलिए सफल शिक्षक, युवा विद्यार्थी के मन में सत्य की अविचल साधना की उद्दाम लालसा जगाता है। किसी राष्ट्र की ऊँचाई केवल साक्षरता सम्बन्धी सांख्यिकी के आधार पर मापी नहीं जाती है। राष्ट्रों की उपलब्धि कला, ज्ञान और विज्ञान के विविध अनुशासनों में अपने सफल चिन्तकों और अन्वेषकों की रचनात्मक भूमिका के मानदंड पर आँकी जाती है। हमारे देश में शिक्षक स्वयं में सार्वभौम सत्ता माने जाते हैं। मूलतः वे लोक के भाग्यविधाता और सेवक होते हैं। हमारे देश के महान् गुरु वे रहे हैं, जिन्हें सांसारिक इच्छाओं पर पूरा नियंत्रण था और जिन्होंने सुख-सुविधाओं से दूर तपोवनों में कभी-कभी प्राणों का उत्सर्ग करके भी ज्ञान की दीपशिखा को बुझने नहीं दिया। विश्व की महान् विरासत के स्वरूप महर्षि पाणिनि को तक्षशिला के मार्ग में जाते हुए एक दिन हिंसक व्याघ्र का आहार बनना पड़ा। इसी प्रकार अनगिनत आदर्श गुरुओं और शिष्यों की गौरव-गाथा से हमारे देश का मस्तक ऊँचा रहा है।

बुद्धिजीवियों की भूमिका पर विचार होते रहे हैं और विचार होना भी चाहिए। हरेक समाज में विश्व-प्रकृति और समाज को अनुशासित करने वाले मूल नियमों के प्रति असाधारण संवेदनशीलता रखने वाले प्रतिभाशाली लोग उभरते रहे हैं। ये दैनिक जीवन की ऊपरी स्थितियों की अपेक्षा तलवर्ती नाभिकीय तत्त्वों के प्रतीकों तथा सूत्रों के अन्वेषक होते हैं। इन्हीं तत्त्व-द्रष्टाओं की खोज राष्ट्र के

वाचिक और लिखित वाङ्मय में मूर्तित होती हैं। तात्कालिक स्थूल अनुभवों की सीमा के पार जाकर सत्व और अस्तित्व की पहचान की आवश्यकता ही बुद्धिजीवियों के प्रति सभी के मन में आदर की भावना पैदा करती है। व्यक्तिगत आवश्यकताएँ बौद्धिक समाज का न तो निर्माण करती हैं और न उसकी ऊँचाई का निर्धारण ही। सत्य के निरपेक्ष और पवित्र मूल्याश्रित पक्षों के प्रति संवेदनशीलता की ईमानदारी तथा प्रतिबद्धता ही बुद्धिजीवियों की उपलब्धि होती हैं। ये अपने इन्हीं गुणों के बल पर मानवता के मंगल के लिए तपस्या करते हैं। सभी प्रकार के क्रिया-कलापों में चिरन्तन, संतुलन, संबद्धता और तार्किक क्रमिकता सम्बन्धी खोज के लिए ये अन्तर्दृष्टि देते हैं। इसी प्रसंग में भारत अपने बुद्धिजीवियों को 'ऋषि', अर्थात द्रष्टा की संज्ञा देता है। भारत की तरह संसार के सभी विकसित देशों में बुद्धिजीवी, शिक्षक, चिंतक, राजनेता, वैज्ञानिक, न्यायमूर्ति आदि रूपों में समाज का पथ-प्रदर्शन करते रहे हैं। प्राचीन सभ्यताओं के काल से बुद्धिजीवी ही महान् सम्राटों और प्रशासकों के विश्वसनीय परामर्शदाता हुए हैं। महाराज विक्रमादित्य के नवरत्न और महान् चन्द्रगुप्त के गुरु चाणक्य की महिमा से सभी परिचित हैं। पश्चिमी जगत में प्लेटो, सैराक्यूज के और अरस्तू, सिकन्दर महान के गुरु थे। इसी प्रकार चार्ल्स द्वितीय के हौब्स, क्रौवेल के मिल्टन और एफ० डी० रूजवेल्ट के 'मस्तिष्कन्यास' उदाहरणीय हैं।

आज देश और समस्त मानवता के इतिहास में भी पहले से भी अधिक विषम परिस्थितियाँ उपस्थित हो गई हैं। फलस्वरूप राष्ट्रीय मनस्विता और मूल्यों के संरक्षक शिक्षकों तथा शिक्षा-कर्मियों पर ज्यादा उत्तरदायित्व आ गया है। आजादी के बाद देश कई भीषण संकटों से जूझ रहा है। स्वार्थपरता, आलस्य, द्वेष, क्षेत्रीयता, चरित्रभंजन आदि भ्रष्ट ताकतें हमारे राष्ट्र की अखंडता तथा विकास पर आक्रमण कर रही हैं। इसीलिए हमारा यह देश आज संविधान में उल्लिखित स्वतंत्रता, समानता, धर्मनिरपेक्षता, सामाजिक न्याय आदि मूल्यों के प्रति सही मानसिकता के निर्माण और प्रसार के लिए खासकर अपने शिक्षकों और युवा विद्यार्थियों की ओर विश्वास भरी दृष्टि से देख रहा है। हमारे महान् नेता पंडित जवाहरलाल नेहरू ने दिसम्बर 1947 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के बुद्धिजीवियों और विद्यार्थियों को संबोधित करते हुए कहा था : "अभी हमारे इम्तिहान खत्म नहीं हुए हैं। आइए, हम सब अपने को स्वतंत्रता की भावना से ओतप्रोत और ऐसे अनुशासित स्त्री-पुरुषों के रूप में तैयार करें, जिनका हृदय एक उद्देश्य की शक्ति से भरा हुआ है और जो सच्चाई की राह से न तो कभी विचलित हो सकते हैं और न कभी अपने आदर्शों और उद्देश्यों को भूल सकते हैं।"

आज का भारत पूरी मनुष्य जाति के साथ मानवता के सुन्दर भविष्य की आशाओं को पूरा करने का संकल्प लेते हुए तीसरी शताब्दी के प्रवेश-द्वार पर

खड़ा होने ही वाला है। भारत के साथ अन्य महाद्वीपों में अंग्रेजों, रूसियों, अमेरिकियों, चीनियों, जर्मनों, फ्रान्सीसियों आदि के समाजों में मानवजाति की नियति को लेकर संवाद हो रहे हैं। सामाजिक अव्यवस्था, राजनीतिक विरोध, आर्थिक असन्तुलन, बढ़ती हुई जनसंख्या, बेकारी, गरीबी आदि के साथ आणविक युद्ध की विभीषिका के सही समाधान के लिए बेहतर दिल-दिमाग की जरूरत बढ़ गई है।

इसी क्रम में एकाध अन्य संकटों और दुविधाओं की चर्चा की जा सकती है। विज्ञान और तकनीकी विकास के दबाव और मानवीय मूल्यों के प्रति उदासीनता के कारण अस्वीकारात्मक मानसिकता पैदा हो रही है। सृजन से अधिक संहार की ओर नई पीढ़ी आकर्षित हो रही है। कुंठा, संत्रास और असंतोष की प्रवृत्तियाँ प्रबल हो रही हैं। अपार सुख-सुविधाओं के संचय के लिए लोग पागल हो रहे हैं। भौतिक वस्तुओं की अनावश्यक ललक आदमी को स्वार्थी, लोभी और ईर्ष्यालु बनाती है। इससे आदमी खुद वस्तु बनकर जड़ हो जाता है। आदमी तो विवेक और संयम के बल पर पशुत्व को पराजित करता है। इसलिए शिव को 'पशुपति' कहा जाता है। पूरी सृष्टि के अमंगल रूपी विष का पान करने वाले आशुतोष को ही तो मनुष्य की कृतज्ञता 'महादेव' नाम देती है। इसमें कोई शक नहीं कि इंजीनियरी, पाताल तथा अन्तरिक्ष की खोज आदि के बल पर बुद्धि और कौशल में आदमी की ताकत बढ़ गई है। पर यह भी सच है कि इधर मनुष्य आत्मा के धरातल पर कमजोर हो रहा है। वह सब कुछ पाकर भी अशांत है। विश्व का विख्याता अर्थशास्त्री शुमाखेर कहता है : "अर्थ कभी जीवन की परितृप्ति नहीं हो सकता, अर्थ साध्य हो जाने पर एक सांघातिक बीमारी बन जाता है, उसी तरह जैसे शराब का नशा। अर्थ का प्रयोजन समझदारी है, न कि संग्रह। तभी अर्थ का कुछ अर्थ है।" इसी विचार को नैतिक स्वर देती हुई एक भारतीय सूक्ति कहती है : 'संतोषं परमं सुखमं'। निश्चयपूर्वक हमें भोक्ता-संस्कृति के खतरों को पहचानना चाहिए और बौनी होती जा रही मूल्याश्रित मानवीयता को लोभ के गर्त में डूबने से उबारना चाहिए। आदमी को हमेशा अपने को इंसान बनाने की कोशिश करनी चाहिए। उर्दू अदब के मशहूर शायर मिर्जा गालिब सही फरमाते हैं कि : "बस कि दुश्वार है हर काम का आसां होना, आदमी को भी मयस्सर नहीं इंसा होना।"

मनुष्य का अध्ययन करने वाले विचारक कहते हैं कि पशु केवल वर्तमान में जीता है, पर मनुष्य तो कालजयी होता है। वह निरन्तर अपना परिष्कार और निर्माण करता है। वह मात्र तन नहीं है, वह मूलतः मन है। ध्वंस करना जड़त्व है और सृजन करना ही मनुष्यत्व है। इसलिए घृणा को प्रेम से, क्रोध को क्षमा से और लोभ को त्याग से ही जीता जा सकता है। ऐसे ही पाक अहसास की आवाज

और मूल्य-मुखी मानसिकता की संवाहिका वाणी महान् शिक्षकों के मुख से स्पन्दित हो शिष्यों की आत्मा की गहराइयों में सदा उतरती रहती है।

ज्ञान का मूल्य देश-काल निरपेक्ष होता है। भारत के याज्ञवल्क्य, कणाद, पाणिनि, शंकर, पतंजलि आदि और पश्चिम के प्लेटो, अरस्तू, कोपरनिकस, गैलिलियो, न्यूटन, आइन्स्टीन आदि की मृत्युंजयी मनस्विता संपूर्ण मानव जाति की धरोहर है। इन्हीं महान् शिक्षकों के प्रज्ञा-प्रकाश द्वारा मनुष्य जीवन के सभी आयामों पर निरन्तर उच्चतर सीढ़ियों पर आरोहण करता है और करेगा। इसी भाव को भारतीय प्रार्थना के ये अभिलाषी स्वर संकेतित कर रहे हैं : 'तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतंगमय, असतो मा सत्गमय'। वस्तुतः इस वाणी में ज्ञान-साधना द्वारा शुद्ध, बुद्ध और पूर्ण बनाने की अशेष आकांक्षा व्यक्त हुई है। संपूर्ण मानव समुदाय की उन्नति के लिए की जाने वाली तपस्या के क्षणों में हमारे मंत्रदृष्टाओं ने ज्ञान-प्राप्ति की अनुभूति के विरल क्षणों में ही यह छन्द गाया है कि : "अमृतं तु विद्या या विद्या सा विमुक्तये"। सारतः सत्य के अन्वेषण, भावन और आचरण से मनुष्य मात्र क्षुद्रता, अविवेक, संशय, भय आदि से मुक्त होकर पूर्ण बनता है।

निश्चयपूर्वक सत्य का केवल चिंतन करना ही ज्ञानियों के कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं है। जब मानवता भूखी तथा रुग्ण हो, प्रताड़ित तथा निराश्रित हो, भौतिक शक्तियाँ मनुष्यता के खिलाफ सर उठाने लगें और सामरिक या राजनीतिक पहल मत्स्य न्याय को शह देने लगें तब प्राचीन तपोवनों के विश्वामित्र और गुरुकुलों के चाणक्य की तरह वर्तमान बुद्धिजीवियों को अपनी संस्थाओं की चहारदीवारी से बाहर आकर नर-संहार और मानव-शोषण के खिलाफ अपनी आवाज बुलन्द करनी चाहिए। आदर्श बुद्धिजीवी निष्क्रिय और उदासीन नहीं हो सकते। सदियों पूर्व अरस्तू ने यह शंका जाहिर की है कि विचारणा ही पर्याप्त नहीं है, इसलिए कि वे जड़ हो सकती हैं, वे अकर्मण्य हो सकती हैं और वे समाज के जीवन में प्रवेश करने से कतरा सकती हैं। इसलिए सरस्वती के वरद पुत्रों को समाज से सदा निवास करना चाहिए। चुनौतियों के वक्त संकल्प, धैर्य, साहस, स्वाभिमान आदि भावों का प्रसार करते हुए समुदाय को सही को सही तथा गलत को गलत कहने और समझने का आत्मबल देना चाहिए। □

चार

विश्वविद्यालयों के उत्तरदायित्व

उच्चतर शिक्षा-संस्थानों का प्रमुख उत्तरदायित्व केवल ज्ञान-विज्ञान और संस्कृति के विभिन्न अनुशासनों में संचित, सूचना और विवरण का प्रेषण तथा प्रसारण करना नहीं है। इनसे जीवन-जगत-सम्बन्धी नये तथ्यों और तत्त्वों का अन्वेषण और ज्ञान-राशि के तर्कयुक्त विश्लेषण द्वारा उसकी ग्राह्यता, संगति और मूल्यवत्ता सम्बन्धी विवेचन भी अपेक्षित है। अगर हम जीवन-प्रक्रिया को देखें तो यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि मनुष्य अपनी रचनात्मक ऊर्जा के कारण ही प्राणियों की विकास-यात्रा में सर्वोपरि सिद्ध हो सका है। इसलिए शिक्षा-संस्थाओं की बड़ी जिम्मेवारी बौद्धिक कणों का मात्र संचयन और मनन न होकर उनका निरन्तर विनियोग भी है। इससे मनुष्यमात्र वातावरण के साथ समायोजन करने की क्षमता अपने बाह्य तथा आंतरिक जीवन को बेहतर बनाते रहने का ज्ञान तथा प्रविधि प्राप्त करता है। भारतीय तत्त्व-चिंतन में उक्त संदर्भ को अत्यंत सूत्रात्मक ढंग से व्यक्त किया गया है। वैदिक ऋषि सत्य-दर्शन के क्षणों में जिस चरम नियंता के सम्मुख समर्पित होता है उसको पूर्व की अपेक्षा

उन्नत सत्ता की अवधारणा में अभिव्यक्त करता है। सम्बद्ध मंत्र है : 'स्तमो वै तरः'। इस नाभिकीय अभिलाषा की व्यंजना में पूरे ब्रह्माण्ड में परिव्याप्त विकास, परिवर्तन, रूपान्तरण, आदि की मूल प्रवृत्ति-प्रकृति उद्भासित होती है। भारतीय संस्कृति के अनेक प्रतीकात्मक और मिथकीय स्वरूपों में विकास-प्रक्रिया के निगूढ़ प्रयोजन को सूक्ष्मता से चित्रित किया गया है। दशावतार धर्मचक्र, नटराज आदि में विश्व की विकास-यात्रा अपने लक्ष्य को उद्घाटित करती है। इसमें कालिकता के स्तरों पर कालातीतता और क्षणिकता में निहित सनातन के प्रस्फुटन की तलाश अंकित है। भारतीय मानस में बिंबित 'नटराज' का अभिप्राय विचारणीय है जहाँ वैश्विक क्रिया-प्रवाह (कौसमिक एक्टिविटी) द्वारा निःशेष परिवर्तन-प्रक्रिया चरम की अनन्त खोज में प्रवहमान है।[1] यूरोप के विख्यात जीव वैज्ञानिकों और तत्त्व-चिंतकों ने भी विकासमान उच्चतर सत्ता पर प्रकाश डाला है। डार्विन ने विकासवाद के अन्तर्गत मत्स्य से मनुष्य के रूपान्तरण और मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद द्वारा गतिधारा का जो बहुमूल्य निरूपण किया है, उससे सभी प्रकार के विकास-क्रम में उच्चतर ऊर्जा, व्यवस्था, तात्विकता आदि का आविर्भाव सिद्ध होता है।

मार्क्स ने भले हेगेल के तर्क; प्रवृत्ति और आत्मा के द्वन्द्व-नियम में प्रकट होने वाली निरपेक्ष सत्ता को अस्वीकार किया है किन्तु वह भी अपने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त में नव्य उत्क्रान्तिवाद (इमरजेंट इवोल्यूशन) को प्रतिपादित करता हुआ जड़ से चेतन की उत्पत्ति को प्रमाणित करता है। मार्क्स के अनुसार जड़तत्व विकसित होते हुए सूक्ष्म होकर चेतना का जन्मदाता बन गया।[2]

---

1. "He is not only the architect of the Universe, he is himself the author of the theory of this mode of construction, and his is not an effort limited to a short time schedule to bring into existence something that has not been there. He is eternally active, as there is no creation, no destruction, but only transformation and transmutation, for which his omniscience, omnipotence and immanence and over-powering will make him the supreme Isvara."
—(C. Sivaramamurti, : 'Natraja', Delhi, 1974, p. 34-35)
2. "Our consiousness and thinking, however, supra-sensuous they may seem, are the product of a material, bodily organ, the brain. Matter is not a product of mind but mind itself is merely the highest product of matter."
—(Karl Marx : 'Selected works,' Vol. I., p. 430.)

प्रसिद्ध वैज्ञानिक प्लैनेक ने आइन्सटीन के सापेक्षतावाद के सिद्धान्त में परमतत्व के निषेध से असहमति व्यक्त की है। प्लैनेक का विचार है कि उक्त सिद्धान्त में सर्वत्र भौतिक वाह्यजगत में अन्तर्निहित चरम तत्त्व की स्वीकृति पर आधृत है।[1]

इस संदर्भ में विश्वविद्यालयों के कर्त्तव्य पर भी प्रकाश पड़ता है। ऊँची शिक्षा-संस्थाओं में छात्र-छात्राओं को इस प्रकार प्रशिक्षित करना चाहिए कि वे वातावरण के साथ सर्वोपरि समायोजन करते हुए उसका पुनर्निर्माण भी कर सकें। मानव-इतिहास में बदलाव की गति इतनी तेज है कि कोई भू-खंड अगर आवश्यकतानुसार अपनी नियति के निर्माण में परिवर्तन नहीं करता तो वह परिवर्तन के तेज रफ्तार में शैवाल की तरह विश्व की विकास-धारा के किनारे फेंक दिया जायेगा। इसलिए काल-चक्र के अनुसार हमेशा सचेत और सक्रिय होकर राष्ट्र की अपनी रचनात्मक भूमिका अर्पित करनी चाहिए। इस प्रसंग में विख्यात कवि-प्रतिभा रॉबर्ट फ्रॉस्ट के ये प्रेरक छन्द सर्वथा स्मरणीय हैं[2]:

ये वन-तरु सुन्दर सघन गहन हैं,
किन्तु मुझे किए वादों को निभाने हैं,
और, मुझे सोने के पहले मीलों तक चलना है,
और मुझे सोने के पहले मीलों तक चलना है।

कोई भी राष्ट्र शिक्षण-संस्थाओं द्वारा अपनी युवा-पीढ़ी की मानसिक तथा बौद्धिक ताकत को जिस ढाँचे में ढालता है, उस पर उसका भविष्य निर्भर करता है। इसलिए संवेदनशील युवा-वर्ग को ऊँचे भावों, विचारों और आचरणों का प्रशिक्षण देना चाहिए। उनमें जीवन के यथार्थ के साथ उन आदर्शों के प्रति चेतना

---

1. "The absolute is not uprooted in the much misunderstood theory of relativity; on the contrary it has attained even sharper expression in it, since physics is based everywhere in that respect on an absolute underlying the external world."
—('Albert Einstein's Philosophical Views and the Theory of Relativity,' Moscow, 1987, p. 235)
2. कविता का यह अंश पण्डित जवाहरलाल नेहरू की लिखावट में उनके पास पाया गया। मूल अंश इस प्रकार है:
'The woods are lovely, dark and deep, But I have promises to keep, and miles to go before I sleep and miles to go before I sleep.'

जागृत करनी चाहिए जो मानव-इतिहास के कोष में एकत्र होते रहते हैं। देश के विश्वविद्यालय अगर समय की माँग के अनुसार विद्यार्थियों को उनकी प्रतिभा के अनुसार योग्य शिक्षक, अभियन्ता, चिकित्सक, वैज्ञानिक, कलाकार, राष्ट्रभक्त आदि नहीं वना पाते तो वे केवल ईंट-पत्थर से वने निष्प्राण भवन मात्र सिद्ध होंगे। हमारे देश की जो समकालीन समस्याएँ हैं, उन पर विजय पाने की संभावना इस बात पर निर्भर करेगी कि हमारी युवा-पीढ़ी किस संस्कार और शक्ति को लेकर अपने विद्या-मंदिरों से जीवन के रण-क्षेत्र में प्रवेश करती हैं। इसलिए कि नन्हीं-सी चिड़िया भी अपने शिशु को दाना चुगाने के साथ उसे इतना शिक्षित कर देती है कि वह तूफान और बवंडर में पंख फैलाये अपने नीड़ तक पहुँच जाता है।

हमारे देश की महान परम्पराओं और उपलब्धियों के विषय में विचित्र पूर्वग्रह और भ्रम रहे हैं। कुछ लोग यह कहते हैं कि भारत ने असंगतपूर्ण आध्यात्मिक अथवा रहस्यात्मक प्रसंगों की खोज पर ज्यादा बल दिया है। इस क्रम में यह भी कहा जाता है कि यहाँ के प्राचीन तपोवन कर्मसंकुल जीवन के संघर्ष से भागने वालों के पलायन-स्थल रहे हैं। कुछ विदेशी विद्वान भारत की सोच और जीवन-प्रणाली को अयथार्थवादी कहते हैं। किन्तु उक्त धारणा भ्रामक और दोष-पूर्ण है। 'वेद,' 'उपनिषद,' 'पुराण,' 'स्मृति' आदि में जीवन की परिपूर्ण अव-धारणा और उसकी अनुकूल संरचना प्रस्तुत की गई है। यहाँ मनुष्य को हर प्रकार से एक निर्विकार समर्थ और सार्थक प्राणी-रूप में कल्पित किया गया है। उपनिषदों में कर्म और विद्या की सार्थकता मनुष्य को सभी प्रकार क्षुद्रताओं, सीमाओं और परतंत्रता से मुक्त कर शुद्ध, बुद्ध और पूर्ण बनाने में मानी गई है। यहाँ कहा गया है : 'तत्कर्म यन्न बन्धाय, सा विद्या या विमुक्तये' कर्म वही है जो वन्धन के लिए न हो और विद्या वही है जो बन्धनों से मुक्त कर दे। 'मनुस्मृति' मनुष्य की साधना-यात्रा के इन चार आश्रमों को निर्धारित करती है : धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन चारों के समन्वयन और संतुलित सम्मिश्रण से जीवन का पूर्ण प्रतिमान आविर्भूत होता है। इसी प्रकार भारत के साधक, गुरु, योद्धा, सम्राट् आदि तपोवनों में पूर्णता की अन्तर्दृष्टि और प्रशिक्षण के लिए जाते थे। वहाँ से वे संबुद्धि प्राप्त कर समाज की सेवा में संलग्न होते थे। विश्वामित्र, जनक, बुद्धदेव, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, गांधी आदि महान मानव-इतिहास के उत्तुंग शिखर हैं। इनकी साधना दीपक की तरह प्रज्वलित होकर जीवन-संघर्ष में जूझती हुई प्रताड़ित, निराश्रित, दलित, दुखित समष्टि के लिए संकल्प, निर्भयता, समानता, धैर्य और करुणा के अमूल्य प्रकाश बिखेर रही है। भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठ-पुरुष श्रीकृष्ण और श्रीराम तपोवनों के शान्त, उदात्त और सात्विक वातावरण में मनीषियों से शिक्षा इसलिए लेने गये थे कि वे

आततायियों के आसुरी दुष्कर्मों से मानवता की रक्षा कर सकें। श्रीकृष्ण और इनका महान् उपदेश जीवन के कुरुक्षेत्र में उपस्थित चुनौती, अन्तर्विरोध, असंगति, किंकर्तव्यविमूढ़ता, आदि बाधाओं में आध्यात्मिक मूल्यों के विनियोग द्वारा धर्म-क्षेत्र स्थापित करने का अक्षय विवेक प्रदान करता है। एक अर्थ में 'गीता' का धृतराष्ट्र मिथ है। जीवन सत्य का तटस्थ द्रष्टा है। यह गीता-रूपी 'श्रीकृष्णार्जुन संवाद' में स्पन्दित शाश्वत सत्य को व्यावहारिक जीवन-रण में उपस्थित होने वाले संभावित द्वन्द्वों के क्षणों में पारदर्शी विवेक देता है। इसलिए भारतीय तपोवन श्रीकृष्ण ऐसे पुरुषार्थों को प्रशिक्षित करते रहे हैं, जो पराङ्मुख अर्जुन को मोह, भीरुता, विकल्प आदि दुर्बलताओं से मुक्त होने के ये अमृत-उपदेश देते हैं : "तस्माद-युध्यस्व भारत" (इसलिए हे अर्जुन ! तू युद्ध कर) (गीता-2.18), "तस्माद सक्तः सततं कार्यं कर्म समाचार" (अतः तू मोह त्याग कर अपना कर्त्तव्य-कर्म संपादित कर) (गीता 3.19)। 'अर्जुन' व्यक्ति-शक्ति की उस स्थिति को भी प्रतीकित करता है जो उचित ज्ञान तथा प्रशिक्षण और दिशा-निर्देश के अभाव में सृजन के बदले संहार की ओर भटक सकती है। अरस्तू ने ठीक ही कहा है कि महान गुरु मानवीय क्षमता को सही दिशा की ओर मोड़ते हैं। इसलिए हमारी शिक्षा-संस्थाओं को भटकी हुई वर्तमान युवा-पीढ़ी को रचनात्मक पथों की ओर निर्देशित करना है। सबसे पहले विद्यार्थियों को ऐसी सर्वांगीण शिक्षा देती हैं, जिससे वे पूर्ण मनुष्य बनकर शुभ-अशुभ, श्रेय-प्रेम, सत्य-असत्य, करणीय-अकरणीय आदि के बीच सही चुनाव करने के लिए सम्यक् ज्ञान और आचरण से पूरित हो सकें। ऐसा होने पर ही विद्यार्थी देश और मनुष्यता की सेवा और विकास में अपनी प्रतिबद्ध भूमिका निभाते हुए सार्थक सिद्ध हो सकते हैं।

महात्मा गांधी की तात्विक दृष्टि आधुनिक शिक्षा के उन अभावों पर पड़ी थी, जिसके कारण हमारी राष्ट्रीय शिक्षा असंगत हो गई है। गांधी जी ने शिक्षा-प्रणाली और प्रयोजनों में जो अभाव देखे थे, उनमें अनेक अभी ज्यों के त्यों बने हुए हैं। गांधीजी ने शिक्षा का मुख्य उद्देश्य चरित्र-निर्माण बताया है। स्वयं एक सिद्ध शिक्षक के रूप में उन्होंने 15 अक्तूबर 1917 को भागलपुर (बिहार) में एक छात्र-सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए शिक्षा के सही लक्ष्यों पर अपने उज्ज्वल विचार व्यक्त किए हैं। यहाँ उनका उल्लेख करना लाभप्रद होगा। इस भाषण में गांधी जी ने समकालीन विचारशून्य, तेजहीन और निरुत्साही विद्यार्थी-जीवन पर दुःख प्रकट किया। उन्होंने शिक्षा-सम्बन्धी कई व्यावहारिक पक्षों पर भी अपनी मान्यताएँ रखीं। यहाँ गांधी ने शिक्षा की माध्यम-भाषा, शिक्षा के मूल प्रयोजन, शिक्षा और श्रम, विद्यार्थी और राजनीति जैसे पहलुओं को सामने रखते हुए कहा कि शिक्षा की माध्यम-भाषा मातृभाषा होनी चाहिए। इसलिए कि वह भाषी के लिए सहज और सम्पूर्ण होती है। गांधी ने विख्यात पाश्चात्य

विचारक हक्सले के शिक्षा-सम्बन्धी विचार का उल्लेख करते हुए कहा कि शिक्षा का मूल उद्देश्य है—चरित्र का निर्माण करना। उन्होंने सार-संक्षेप में अपने उक्त भाषण के अन्त में विद्यार्थियों को अनुप्रेरित करते हुए कहा : "तुम्हारे ज्ञान की कीमत तुम्हारे कामों से होगी। सैकड़ों किताबें दिमाग में भर लेने से कुछ लाभ नहीं मिल सकता, किन्तु उसकी तुलना में काम की कीमत कई-गुना ज्यादा है। दिमाग में भरे हुए ज्ञान की कीमत सिर्फ उसके अनुसार किये गये काम के बराबर ही है। बाकी का सब ज्ञान दिमाग के लिए व्यर्थ का बोझ है। इसलिए मेरी तो सदा यही प्रार्थना है और आग्रह है कि तुम जैसा पढ़ो और समझो, वैसा ही आचरण करो। (गांधी, 'संस्मरण और विचार,' 1968)।

हमारे विश्वविद्यालयों को महान रचनात्मक शक्ति-पुंज की अपनी धरोहरों में निष्ठापूर्वक चरम मूल्यों के चिंतन और आचरण की आंतरिक प्रेरणा जागृत करनी चाहिए, इसलिए कि प्रत्येक शिक्षार्थी उस मनस-तत्त्व का धारक होता है जो देवत्व को अपनी साधना द्वारा धरती पर अवतरित कर सकता है। इसी प्रसंग में भारतीय तत्त्व-साधना की 'ब्रह्मविद्या' संज्ञा अपनी सार्थकता अभिव्यंजित करती है। □

खंड : ग

व्यक्तित्व

एक : सत्य के सर्वोच्च शिखर : महात्मा गांधी

दो : लोकतंत्र के प्रकाशपुंज : पंडित जवाहरलाल नेहरू

तीन : विश्वात्मा के अपूर्व अन्वेषक : सर्वपल्ली राधाकृष्णन

चार : आत्मबलिदान की गौरवगाथा : श्रीमती इंदिरा गांधी

एक

सत्य के सर्वोच्च शिखर महात्मा गांधी

सत्यनिष्ठ महात्मा गाँधी मानव-सभ्यता को आधुनिक भारत की अद्वितीय देन हैं। दक्षिण अफ्रीका में अन्याय के खिलाफ उठे उनके हाथ से लेकर अन्तिम बार दिल्ली में प्रार्थना-भवन की ओर बढ़ती हुई उनकी पार्थिव काया के सीने में गोली लगने पर प्रणाम की मुद्रा में जुड़े उनके करतल की अविस्मरणीय मुद्राओं तक का उनका स्वरूप उनकी महान जीवन-यात्रा सत्य की चरम शक्ति द्वारा पूर्णता-प्राप्ति की अनवरत साधना की गौरव-गाथा है। अनेक बार महात्मा ने अपनी इस यात्रा को अँधेरे में भटकते हुए एक आदमी द्वारा सत्य की तलाश कहा। गांधी का सम्पूर्ण जीवन अपने नाभिकीय रूप में सत्य के अन्वेषण, शोध और दर्शन का अद्भुत प्रयोग-स्थल है। यह मान्यता अपनी आत्मकथा को गांधी जी द्वारा 'मेरे सत्य के प्रयोग' मानने के गहरे अनुभव से प्रमाणित होती है। गांधी जी ने आजीवन भारतीय स्वाधीनता-आन्दोलन, हरिजन-सेवा, कुटीर उद्योग, खादी, पंचायती व्यवस्था तथा सहकारी से जुड़े रहे सत्याग्रह, स्वदेशी आन्दोलन, उपवास, मातृभाषा का प्रचार आदि जो भी कार्यक्रम दुनिया के सामने

उन्होंने रखे वे अपने मूल प्रयोजन में स्वयं के आचार-विचार को शुद्ध और पूर्ण बनाने के प्रयुक्त साधन हैं।

गांधी जी सत्य के सिद्ध भावक और अथक संवाहक थे। अपने अन्तः को इन्होंने बाहरी जिन्दगी के ढांचे में न ढालकर, उस पूरे बाह्य जीवन प्रकारों अर्थात् अपनी सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आदि सक्रियताओं को समेकित रूप में पूर्णता की खोज के लिए अर्पित किया। गांधी जी के अनुसार सत्य वातावरण से आने वाली वस्तु नहीं है। वह तो ऐसी वस्तु-सापेक्ष निधि है, जिसे अन्तरात्मा का उत्तराधिकार मानना चाहिए। सत्य सम्बन्धी गांधी जी की सोच को एक अर्थ में महान भारतीय मूल्यों का नवनीत माना जा सकता है। गांधी जी के प्रेरणा-पुंजों में वेद, उपनिषद्, पुराण आदि उल्लेखनीय हैं। विशेषतः 'मुंडकोपनिषद्' में सत्य-दर्शन का पारदर्शी अनुभव प्रतिबिम्बित होता है। यहाँ कहा गया है कि यह शुद्ध ज्योतित आत्मा, सत्य, तप, ज्ञान और ब्रह्मचर्य से प्राप्त की जाती है। इस सत्य की ही विजय होती है। ऋषिगण देवयान-मार्ग द्वारा सत्य के परम निधान पर पहुँचते हैं। किसी भी काम की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि उसके करने में कितनी सच्चाई है।[1] उपर्युक्त सत्य-चिंतन की गहराई और व्यापकता में जाकर गांधी जी ने सत्य-सिद्धि के लिए सत्यनिष्ठ जीवन-यापन को ही उच्चतम साधन बनाया। गांधी जी ने दक्षिण अफ्रीका में किए सत्याग्रह को जीवन के तत्त्व की खोज माना। इसके द्वारा लोगों में से कायरता दूर कर पौरुष भरने तथा सच्चे मनुष्यत्व को विकसित करने को उन्होंने मूल हेतु माना। गांधी जी ने आश्रम-जीवन में जिन व्रतों को प्रमुख स्थान दिया है, वे हैं—सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, स्वदेशी, अभय, अस्पृश्यता, स्वभाषा आदि। गांधी जी ने इन सभी व्रतों को सत्य-प्रतीति का ही विविध पथ समझा। अहिंसा-सम्बन्धी गांधी जी का विचार निश्चयपूर्वक मनुष्य की स्वीकारात्मक ऊर्जाओं पर आधृत है। अहिंसा को गांधी जी ने ऊँचे उद्देश्य की पूर्ति के लिए व्यक्त निर्विकार भाव और आचरण माना। गांधी जी में अहिंसा की अवधारणा निरन्तर आविर्भूत होती गयी है। इसलिए गांधी-विचार में अहिंसा का प्रयोग हिंसा से बचना, ईर्ष्या-द्वेष से मुक्त होना, पूरे हृदय से निःस्वार्थ सद्भावना प्रकट करना आदि अर्थों में हुआ है। गांधी जी के शब्दों में 'सक्रिय रूप में अहिंसा का अर्थ है—पवित्रतम प्रेम और करुणा'। इन्होंने

---

1. सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥
सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्"॥ (3/1/5-6)

आत्मबलिदान के रूप में सत्य की इस शीलवान आभा को मनुष्य का आत्मबल कहा और इसे स्वेच्छा से कष्टसहन का स्वभाव भी स्वीकार किया। गांधी जी के अनुसार सक्रिय अहिंसा का मतलब—"अन्याय की इच्छा के आगे दीनतापूर्वक झुक जाना नहीं है। इसका मतलब तो अपनी आत्मा की समस्त शक्ति से अत्याचारी का विरोध करना है। हमारे अस्तित्व को सार्थक बनाने वाले इस नियम का अनुसरण करके कोई अकेला व्यक्ति भी अपने सम्मान, अपने धर्म और अपनी आत्मा की रक्षा करने के लिए एक अन्यायी साम्राज्य की समस्त शक्ति को चुनौती दे सकता है और उस साम्राज्य के पतन या पुनरुद्धार का कारण बन सकता है।"

गांधी जी ने स्वराज्य को और उसकी प्राप्ति के लिए किए जाने वाले संघर्ष तथा समर्पण को सत्य-धर्म का प्रकार माना। गांधी जी दृष्टि में आजादी महान सच्चाई है। स्वराज द्वारा ही मनुष्य अन्याय, भय, शोषण आदि से मुक्ति पा सकता है। इन्हीं कारणों से गांधी की अन्तरात्मा स्वतन्त्रता-आन्दोलन को धार्मिक युद्ध मानती थी। वे प्रेम और अहिंसा के माध्यम से शासक का हृदय परिवर्तन कर —अर्थात् उनके दृष्टिकोण को बदलकर ही आजादी पाना चाहते थे। इसी प्रकार इस 'स्वराज्य' को गांधी जी ने राजनीतिक अर्थ की अपेक्षा गहरे आध्यात्मिक संदर्भ में ग्रहण किया। उन्होंने आजादी को देश की गरीबी, अशिक्षा, अन्धविश्वास आदि को दूर करने का सबल उपाय समझा। आजादी की प्राप्ति हेतु अहिंसा और प्रेम ऐसे अनुपम साधनों के प्रयोग के लिए विश्व के समकालीन श्रेष्ठ व्यक्तित्वों ने उन्हें बीसवीं शताब्दी का सबसे बड़ा आदमी कहा। उनके समस्त कार्य तथा सन्देश को चिंतकों ने महान आत्मा की चुनौती कहा। स्वाधीनता की सार्थकता के सम्बन्ध में उनका यह विचार सर्वथा ग्राह्य है : "भारत के लिए स्वाधीनता का तब तक कोई अर्थ नहीं है, जब तक एक व्यक्ति, चाहे वह कितना भी बड़ा क्यों न हो, लाखों लोगों के जीवन, सम्पत्ति और सम्मान को अपनी मुट्ठी में बन्द किये हो। ऐसा समाज कृत्रिम, अस्वाभाविक और असभ्य समाज ही हो सकता है। इसका अन्त अवश्यम्भावी है और तभी स्वराज की स्थापना हो सकेगी।" इस प्रकार भारतीय स्वतंत्रता-आन्दोलन को गांधी जी ने भौतिक शक्ति की अपेक्षा आत्मिक शक्ति पर अटूट आस्था के क्रियान्वयन के रूप में प्रस्तुत किया। अपने अन्य कार्यक्रमों की भांति भारत की आजादी की इस लड़ाई को भी गांधी जी ने सत्य सिद्धि का कर्म माना।

गांधी जी के निर्मल विचार और वाणी में प्रेम निरन्तर प्रवाहित है। प्रेम को गांधी जी ने सच्चाई की भाषा कहा। इसे एक ऐसी आन्तरिक पवित्रता के रूप में उन्होंने स्वीकार किया, जिसे व्यक्तिगत और सार्वजनिक कार्यों में सभी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। सत्य और अहिंसा के साथ यह प्रेम

गांधी जी की ऐसी धरोहर है जिसके बल पर विविध जाति, वर्ग, वर्ण, भाषा, रहन-सहन वाले अपार जन-समूह के साथ उनका प्रगाढ़ तादात्म्य स्थापित हुआ। गांधी जी ने प्रेम-भाव को ईश्वर भक्ति का एक स्वरूप माना। महात्मा जी ने अपना अमूल्य प्राण भी प्रेम और शान्ति के रामराज्य की स्थापना के लिए अर्पित किया। सभी के प्रति समान रूप से प्रेम रखने के कारण गांधी जी सनातन रूप से ऐसे विश्वात्मा हो गये जिसने जीवन के प्रत्येक आनन्द को अधिकार से और विषय को सबलता से अलग रखा। टॉमस ए० केम्पिस के ये शब्द गांधी के अपार धैर्य, सहिष्णुता और प्रेम को समझने में सर्वथा उपयुक्त हैं : "प्रेम बोझ का अनुभव नहीं करता, कठिनाई की बात नहीं सोचता, जो कुछ अपनी ताकत से बाहर है, उसके लिए कोशिश करता है, असम्भव का बहाना नहीं करता; क्योंकि सभी वस्तुओं को वह अपने लिए न्यायपूर्ण और सम्भव मानता है।"

गांधी जी ने अपना व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक जीवन में उपवास, मौनव्रत, ध्यान, प्रार्थना आदि को आत्मशक्ति पाने का पवित्र साधन माना है। उपवास के द्वारा अनेक बार लोकमन मे गांधी जी ने अपने चित्त को शुद्ध करने, उद्देश्यों की पवित्रता जताने, दूसरे के दोषों को अपने ऊपर लेकर प्रायश्चित करने आदि का जो आचरण किया, वह उनके सत्य-मंथन का ही विनियोग है। उपवास की तरह प्रार्थना गांधी जी के लिए मूल्यों के प्रति आस्था पाने का साधन है। चूंकि प्रार्थना ईश्वरीय भावों को सच्चे विचार तथा कर्मों द्वारा निखारने में सहायक होती है इसलिए गांधी जी मौन-व्रत का कार्यक्रम आजीवन चलाते रहे। उनकी जिन्दगी का हर रोज प्रार्थना से शुरू होता था। सभी जानते हैं कि गांधी की प्रार्थना में हिन्दू धर्म के सर्वोच्च के साथ सभी अन्य धर्मों के आराध्यों का प्रसंग स्पन्दित होता था। गांधी के 'रघुपति राघव राजाराम, पतित पावन सीताराम' के साथ 'अल्ला, ईश्वर' आदि हैं। धर्म के प्रति गांधी जी की बहुत ही स्पष्ट और उदार दृष्टि थी। जीवों की हत्या करना, समाज के एक वर्ग को अस्पृश्य मानना आदि को गांधी जी हिन्दू-धर्म के माथे पर कलंक मानते थे। बड़े संकल्प के साथ गांधी जी ने यह कहा है कि उन्होंने—"हिन्दू-धर्म द्वारा ही ईसाई एवं इस्लाम-धर्म का आदर करना सीखा है।"

आज की मानसिकता कभी-कभी कुटीर उद्योग, चर्खा, खादी, ग्राम-पंचायत, स्त्री-शिक्षा, मातृभाषा प्रचार आदि सम्बन्धी गांधी के आन्दोलनों के महत्त्व को सही प्रासंगिकता में नहीं समझ पाती। गांधी जी के लिए चर्खा सूत कातने का कोई स्थूल-यन्त्र नहीं है। उनके अनुसार चर्खा मनुष्य के श्रम और उससे प्राप्य आत्म-सन्तोष का प्रतीक है। इसी प्रकार खादी को उन्होंने उस आत्मनिर्भरता का अंश माना जिसकी सहायता से कोई भी राष्ट्र या समुदाय आत्म-शक्ति को मजबूत करता है। इसी तरह गांधी जी के सभी कार्यक्रम शरीर में आत्मा और आत्मा में

परमात्मा को पाने और प्रकाशित करने के माध्यम हैं। ग्राम पंचायत और कुटीर उद्योग को गांधी जी ने राजनीति तथा अर्थनीति के स्तरों पर समाज को स्वावलम्वी, कर्मठ तथा सुखी बनाने की विश्वसनीय व्यवस्था माना।

गांधी जी अपने व्यक्तिगत जीवन में जिस निवास, वेश-भूषा और खान-पान का प्रयोग करते थे, वे सहज और साधारण थे। घास-फूस से बने आश्रम मे रहकर जमीन पर बैठकर लिखने-पढ़ने का काम कर और ठेहुने तक अधोवस्त्र पहनकर गांधी जी ने दरअसल मानव-सभ्यता की जीवन-पद्धति का उच्चतर प्रतिमान स्थापित किया। आज के जीवन में चरित्र का संकट सब जगह दिखाई दे रहा है। गांधी जी की वाणी हमेशा सभी के दिल और दिमाग को छूती थी, इसलिए कि गांधी जी वही कहते थे, जिसका कि वे स्वयं आचरण भी करते थे। वे मानते थे कि सत्य हमारे विचार और आचार में समान रूप से जब तक व्यक्त नहीं होता, तब तक उसकी साधना पूरी नहीं होती। गांधी जी का अधोवस्त्र दरअसल गांधी जी की पवित्र आत्मा का उज्ज्वल साक्ष्य है। उनका कहना था कि भारतवर्ष की मिट्टी में उपजे हुए कपास से जितना कपड़ा बुना जाता है, उसकी उतनी ही लम्बाई-चौड़ाई का उपयोग उन्हें करना चाहिए, जितनी लम्बाई-चौड़ाई प्रत्येक भारतीय को उपलब्ध हो सकती है।

गांधी जी ने अपने सपनों के भारत का मानचित्र खींचा है। यह चित्र गांधी की अशेष मात्रा के एक ऐसे पड़ाव को अंकित करता है, जो सम्पूर्ण मानव जाति की आशा और विश्वास को भी प्रतिबिंबित करता है। गांधी अपने इन सपनों में संसार की शाश्वत आत्म-वाणी बन गए हैं। इस अनुपम सपने की बुनावट के शाब्दिक ताने-बाने निम्नांकित हैं : "मैं एक ऐसे भारत के लिए काम करूँगा, जिसमें गरीब-से-गरीब यह महसूस करे कि यह देश उसका है और इसके निर्माण में उसकी जोरदार आवाज है। ऐसे भारत में, जिसमें ऊँच-नीच वर्गों का भेद नहीं होगा, जिसमें सभी जातियाँ मेल-मिलाप से रहेंगी, छूआछूत और नशेबाजी के लिए कोई स्थान नहीं होगा। स्त्रियों और पुरुषों के समानाधिकार होंगे। हम शेष दुनिया के साथ शान्ति सम्बन्ध कायम करेंगे, न शोषण करेंगे, न शोषण होने देंगे···यह है मेरे स्वप्नों का भारत।"

निश्चयपूर्वक भारत और विश्व की प्रसव-भूमि सौभाग्यशाली है कि यहाँ गांधी ने जन्म लिया। इसलिए कि गांधी मानवीय आचार-विचार की सहज सच्चाई का पाथेय लेकर चरम सत्य के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचने वाले मृत्युंजयी राही ही नहीं स्वतः उस शिखर के सनातन स्वरूप भी हैं। ऐसे महात्मा को भाव पुष्पों की माला पहनाते हुए गुरुदेव रवीन्द्र ने अपनी एक कविता के इन अमृत छन्दों में स्पन्दित किया है :

'जीवन यखन शुकाये जाय करुणा धाराय एसो।
सकल माधुरी लुकाये जाय, गीत सुधारसे एसो॥'

(जीवन जब सूख जाय तो करुणाधारा के रूप में आओ।
सभी माधुरी छिप जाय तो गीत के अमृतरस में पधारो।) ☐

दो

लोकतंत्र के प्रकाशपुंज पंडित जवाहरलाल नेहरू

पंडित जवाहरलाल नेहरू महानतम युगपुरुष थे। आधुनिक भारत के निर्माता और भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम के लोकनायक के रूप में पंडित जी की बेमिसाल भूमिका अविस्मरणीय है। पंडित नेहरू एशिया के क्षितिज से उदय होने वाले ऐसे उज्ज्वल नक्षत्र माने जाते हैं, जिन्होंने विश्व-इतिहास की धारा को स्वतंत्रता, समानता, सह-अस्तित्व, आदि उच्चस्तर के मानवीय मूल्यों की ओर मोड़ा। निस्संदेह ऐसे महान व्यक्तित्व की गौरव-गाथा, भारत के साथ सम्पूर्ण विश्व की बहुमूल्य विरासत है। जवाहरलाल नेहरू को महात्मा गांधी ने 'हिन्द का जवाहर' कहा है। सचमुच, अस्तित्व की लम्बी लड़ाई में विजयी होकर अपने साथ पूरी मानव-जाति की मुक्ति, खुशी और शान्ति की मंगलकामना करता हुआ यह आधुनिक भारतीय लोकतंत्र स्वतः नेहरू का जीवंत स्मारक है।

पंडित नेहरू का अनुपम व्यक्तित्व, सोच, कार्यपद्धति और स्वभाव, ये सभी सिद्ध करते हैं कि वे अपने आप में विशाल जनसमूह के उमड़ते हुए संवेग, रचनात्मक शक्ति और पवित्र अन्तरात्मा के स्पन्दित

स्वर थे। यह बीसवीं शताब्दी महात्मा गांधी के बाद पंडित नेहरू ऐसे महान मानव-मुक्तिदाता से बढ़कर आने वाली पीढ़ियों को शायद ही कोई दूसरा प्रकाश-पुंज भेंट कर सकेगी। पंडित जी का व्यक्तित्व एक साथ कई श्रेष्ठ गुणों का समृद्ध समन्वय था। पंडित जी की भाषा में ओज, कार्यों में अनुशासन, हाव-भावों में भावात्मकता, निर्णय लेने में स्वविवेक और लक्ष्य-प्राप्ति में क्रान्तिकारी उमंग थी। पंडित जी देशभक्ति में कट्टर, व्यक्तिगत सुरक्षा में बेपरवाह और भारतीय हितसाधन के मामलों में पूर्ण-रूपेण सचेत थे। महात्मा गांधी के निधन के उपरान्त भारतीय किसान-वर्ग के लिए महात्मा गांधी जी के उत्तराधिकारी नेहरू जी के प्रति श्रद्धा की भावना अभिव्यक्त करना स्वाभाविक था। नेताजी सुभाषचन्द्र बोस तथा सरदार पटेल के निधन के उपरान्त नेहरू जी भारतीय स्वतंत्रता-आन्दोलन के अन्तिम नेता रह गए थे। कांग्रेस की पुरानी पीढ़ी के राजनीतिज्ञों ने उनकी देशभक्ति की भावना का आदर किया, नवयुवकों ने उन्हें प्रेरणा-स्रोत के रूप में स्वीकार किया, वामपंथी कार्यकर्त्ताओं ने उन्हें अपने अनुकूल माना। अधिकांश समाजवादियों के लिए वे क्रान्तिकारी थे और भूमिहीन किसान, भूमि-सुधार के उद्देश्य से इन्हीं पर अपनी आशा केन्द्रित किए हुए थे। बुद्धिजीवी लोग उन्हें परम्परागत प्राचीन युग तथा आधुनिक युग के बीच एक सेतु के रूप में मानते थे।

नेहरू जी के बौद्धिक परिवेश पर विविध विचारधाराओं का असर पड़ा। सर्वप्रथम उन पर स्वतंत्रता की भावना का प्रभाव पड़ा था, जिसमें व्यक्ति-गरिमा और अधिकारों पर सबसे अधिक बल दिया गया है। नेहरू जी केम्ब्रिज विश्व-विद्यालयों में फेबियन समाजवाद की ओर आकर्षित हुए थे। उसके बाद वे गांधी जी के दर्शनशास्त्र (फिलॉसफी) से प्रभावित हुए, जिसमें साधन की पवित्रता और अहिंसावादी आचार-विचार पर बल दिया गया था। तदुपरान्त वे मार्क्सवाद तथा वर्गहीन समाजवाद के सिद्धान्तों से भी प्रभावित हुए। वे पाश्चात्य मानवता-वादी नैतिक सिद्धान्तों की ओर भी आकर्षित हुए और बाद में अपने लम्बे कारावास की अवधि में वे प्राचीन भारतीय दर्शनशास्त्र की वेदान्त-विचारधारा की ओर भी आकर्षित हुए। परन्तु उन्होंने अपने आपको रूढ़िगत अध्यात्मवादी तथा धार्मिक विश्वासों से ऊपर रखा। उनके विचारों में राष्ट्रीयता तथा सर्व-जाति समानता के प्रति आकर्षण की गहरी भावना निहित थी। ऐसे कोई भी विशेष विचार उनके दृष्टिकोण पर हावी न हो सके। सभी ने उनको प्रभावित किया, पराजित नहीं किया था। अनिश्चयात्मकता की स्थिति हो जाने के बावजूद भी, भविष्य में उनका अटूट विश्वास था। मानव के उत्तम जीवन और उसके बहुमुखी विकास के बारे में वे सदा प्रयत्नशील रहे। वह एक ऐसे मानवतावादी तथा विकासवादी महापुरुष के रूप में प्रकट होते हैं, जिसके हृदय में मानव-कल्याण के भाव लबालब भरे हुए थे। वे सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं के सुधार में

अत्यधिक उलझे हुए थे। इन संकटों का वे व्यावहारिक हल खोजने में लगे रहे। किसी स्थिति में वे अनावश्यक धार्मिक विश्वास की शरण में नहीं गए। उन्होंने कट्टरता का खुलेआम विरोध भी किया। किन्तु वे जीवन-भर श्रेष्ठ नैतिक मूल्यों के प्रति प्रतिबद्ध रहे। उन्होंने गांधी जी द्वारा दिखाये मार्ग का ईमानदारी से अनुसरण किया। गांधी जी मूल्यों को दीपशिखा की तरह मानते थे। किन्तु महात्मा जी के अतिरिक्त वे विश्व के अन्य चिंतकों के संगत विचारों से भी प्रभावित थे। वे मार्क्स-दर्शन और सोवियत विकास से भी प्रेरित हुए थे, तथापि वे रूसी तन्त्र के अत्यधिक रेजिमेन्टेशन की तुलना में व्यक्तिगत स्वतंत्रता में विश्वास रखते थे। नेहरू सामाजिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए विचार और कार्य दोनों में पूर्णतया समन्वय चाहते थे। उनकी चिन्ताधारा पर मुख्य प्रभाव पश्चिमी स्वतंत्रता की भावना का है, जिसमें राजनैतिक लोकतंत्र तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता सर्वोपरि मानी जाती है। नेहरू पक्के लोकतांत्रिक विचारक थे। उनकी यह आस्था संसदीय प्रणाली, निष्पक्ष चुनाव, प्रेस की स्वतंत्रता, भाषण की स्वतंत्रता, धर्म और सम्मेलन की स्वतंत्रता, राजनीतिक दलों की स्वतंत्रता और व्यक्तिगत अधिकारों के लिए संवैधानिक सुरक्षा के उपायों से प्रकट होती है। समाजवाद उनके विचारों में मूल-रूप से विद्यमान था, उसी के परिणामस्वरूप उन्होंने सामाजिक तथा आर्थिक समानता पर बल दिया और उसी के अनुसार उन्होंने राष्ट्रीय विकास की योजनाएँ बनायीं।

देश के समेकित विकास के लिए पंचवर्षीय योजनाएँ बनायीं, समाजवादी ढाँचे को अपनाया और अर्थ-व्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र का निर्माण किया। गांधीवाद सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक परिवर्तन की मूल प्रक्रिया पर बल देता है, अर्थात् वह नैतिक उपायों से अहिंसात्मक परिवर्तन का पोषक है। भारत ने संसार के सभी उपनिवेशों को स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में मान्यता प्रदान करने के अधिकार पर बल दिया है। सन् 1947 से भारत की विदेश नीति, निस्संदेह मानवी स्वतंत्रता, समानता और सह-अस्तित्व पर आधारित रही है। इस संतुलित विदेश-नीति के संस्थापक नेहरू जी ही थे। इस महत्त्वपूर्ण व्यावहारिक दृष्टिकोण में उनकी सामाजिक तथा राजनैतिक फिलॉसफी के अन्तर्गत कई धाराओं का समन्वय हुआ है। इनमें से प्रत्येक धारा ने सार्वजनिक क्षेत्र के विविध कार्यों में निर्णय लेने में उन्हें प्रेरित किया है। यद्यपि वे साधन के चुनाव या निर्धारण में उदारचेता थे, तो भी वे लक्ष्य-प्राप्ति में कट्टर थे। उन्होंने राजनैतिक लोकतंत्र की सीमाओं के अन्दर रहते हुए योजनाओं द्वारा ऐसे लोकतांत्रिक समाजवाद की स्थापना की, जिसमें धर्म-निरपेक्षता, अर्थात् भारतीय परिवार के सभी सम्प्रदायों के लिए एक समान अधिकार देने पर बल दिया गया। उन्होंने क्रान्ति के स्थान पर शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा सामान्य जनता के जीवन-स्तर को उठाने की कोशिश

की और व्यक्तिगत अधिकारों को बनाए रखने पर सदा बल दिया।

सन् 1947 से पहले पंडित नेहरू व्यापक आधार पर होने वाले राष्ट्रीय-करण के पक्ष में थे। परन्तु बाद में वे इस निर्णय पर पहुँचे कि उत्पादन को सर्वाधिक प्राथमिकता दी जानी चाहिए और इस स्थिति में निजी क्षेत्र के उद्योगों को भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी होगी। नेहरू सुदृढ़ समाजवादी थे। अपने समाजवादी दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए पंडित नेहरू ने कहा : "मैं समझता हूँ कि स्वभाव और प्रशिक्षण से मैं, एक व्यक्तिवादी और बौद्धिक रूप से एक समाजवादी हूँ—फिर इस सबका कुछ भी मतलब क्यों न हो। मैं आशा करता हूँ कि समाजवाद मानव व्यक्तित्व को कुचलता या नष्ट नहीं करता, मैं तो दरअसल उसकी ओर इसलिए आकर्षित हूँ कि वह अगणित मनुष्यों को आर्थिक और सांस्कृतिक दासता के बंधनों से मुक्त करेगा।" [जवाहरलाल नेहरू : ए बन्च ऑफ लेटर्स,' पृ० 353]। नेहरू जी ने सन् 1929 से 1939 तक मार्क्सवादी साहित्य का गहराई से अध्ययन किया था, परन्तु वे उस विचारधारा से पराभूत न होकर प्रेरित हुए थे।

राष्ट्रीय आन्दोलन में पंडित जी का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। संभवतया उनकी सबसे बड़ी देन यह थी कि उन्होंने इसे एक सीमित घेरे से निकाल कर व्यापक लक्ष्यों की ओर मोड़ा। नेहरू जी के ऐसे नेतृत्व की खूबियों को उनके सहयोगी जानते थे, इसलिए वे नेहरू जी का पूरे हृदय से आदर करते थे। उन्होंने भारत के एक खास अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण की आवश्यकता पर भी बल दिया। इस सम्बन्ध में सबसे पहले उन्होंने सन् 1927 में युद्ध के खतरे से सम्बन्धित प्रस्ताव पेश किया था और आजीवन वे इस युद्ध का विरोध करते रहे। अवसर पाकर पंडित जी राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय सभाओं में विश्व युद्ध के विरोध में दुनिया के अवाम को जगाते रहे। विश्वमानवता के प्रति नेहरू जी की अपार निष्ठा की सराहना कई महान् व्यक्तियों ने की है। गांधी जी ने अपने उत्तरा-धिकारी नेहरू जी के योगदान की प्रशंसा करते हुए लिखा है "पंडित जवाहरलाल मूल रूप से एक शुद्ध भारतीय हैं, परन्तु वे अन्तर्राष्ट्रीय मानव भी हैं।" इसीलिए उन्होंने हमें एक ऐसा दृष्टिकोण दिया है कि हम प्रत्येक वस्तु को संकुचित दृष्टि से न देखकर अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से देखें। भारत की मजबूत विदेश नीति की आधार-शिला रखते हुए उन्होंने कहा है, "हम किसी दूसरे मुल्क पर प्रभुत्व जमाना नहीं चाहते। हम किसी मुल्क के आंतरिक या दूसरे मामलों में दखल नहीं देना चाहते। दुनिया के मामलों में हमारा मुख्त हित शान्ति और यह देखना है कि जातीय एकता हो और जो लोग अभी तक गुलाम हैं वे आजाद हो जाएँ और बाकी किसी चीज के लिए हम दुनिया में दखल देना नहीं चाहते और यह भी नहीं चाहते कि दूसरे लोग हमारे मामले में दखल दें"। ['जवाहरलाल नेहरू के भाषण', प्रकाशन

विभाग, दिल्ली]।

उनका एक अन्य महत्त्वपूर्ण योगदान यह है कि उन्होंने स्वराज्य के क्षेत्र में सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टिकोण को भी समाहित कर दिया, ताकि स्वराज्य आन्दोलन को एक पदार्थवादी सामाजिक पुनरुत्थान का रूप दिया जा सके। उन्होंने सन् 1929, 1936, 1937 तथा 1946 में कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषणों में इसी बात पर बल दिया था। जवाहरलाल नेहरू के इसी दृष्टिकोण ने उन्हें भारतीय नवयुवकों और सम्पूर्ण बुद्धिजीवी समुदाय की आवाज का प्रतिनिधि बना दिया। राष्ट्रीय आन्दोलन में उनका यही तीसरा योगदान था। इसके कारण बुद्धिजीवी नवयुवकों से भी वे कांग्रेस के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सक्रिय सहयोग प्राप्त कर सके। नेहरू ने कांग्रेस को अप्रत्यक्ष रूप से एक और भी योगदान दिया था। उन्होंने सशक्त क्रान्ति तथा हिंसा में विश्वास रखने वाले नवयुवकों को सर्वांगीण राष्ट्रीय विकास की रचनात्मक दिशा की ओर मोड़ा। नेहरू ने केवल कांग्रेस को बाहर के विश्व से परिचित ही नहीं कराया, अपितु उन्होंने विश्व के अन्य देशों को भारत की स्थिति तथा स्वतंत्रता-आन्दोलन से अवगत कराया। वे वास्तव में सर्वत्र लोगों के लिए कांग्रेस के प्रतिनिधि-प्रवक्ता थे। वे ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद का डटकर विरोध किया और स्वराज्य के गुणों को जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया। नेहरू के इन गुणों का विशेष रूप से उल्लेख करते हुए महात्मा गांधी ने कहा है, "पंडित जवाहरलाल नेहरू हर तरह से सुयोग्य हैं। उन्होंने वर्षों तक अनन्य योग्यता और निष्ठा के साथ महासभा के मन्त्री का काम किया है। अपनी बहादुरी, दृढ़ संकल्प, निष्ठा, सरलता, सच्चाई और धैर्य के कारण उन्होंने देश के नौजवानों का मन मुट्ठी में कर लिया है। वह किसानों और मजदूरों के सम्पर्क में आये हैं। यूरोपीय राजनीति का जो सूक्ष्म परिचय उन्हें है, उससे उन्हें स्वदेश की राजनीति को समझने और निर्माण करने में बड़ी सहायता मिलेगी।" [गांधी : संस्मरण और विचार, पृ० 150]।

भारत में नेहरू ने कांग्रेस तथा आल इण्डिया स्टेट्स पीपुल्स कान्फ्रेंस के बीच में सम्पर्क स्थापित किया। उन्होंने सन् 1928 में ही कांग्रेस दल की विचार-गोष्ठियों में सम्पूर्ण स्वतंत्रता के मसले को उठाया। उन्होंने अपने लेखों के द्वारा तथा राष्ट्रीय योजना-समिति के अध्यक्ष की हैसियत से कांग्रेस की योजनाओं के प्रति सचेत किया। इसका परिणाम यह हुआ कि सन् 1950 में योजना आयोग की स्थापना हुई और पंचवर्षीय योजनाएँ बनने लगीं। सन् 1929 से लेकर आजीवन वे गांधी जी के साथ भारतीय जनता की आशा, आस्था और विवेक के प्रवक्ता तथा प्रतीक बने रहे। सन् 1937 और 1946 के चुनावों से प्रकट होता है कि उन्हीं के कारण कांग्रेस को आशातीत विजय प्राप्त हुई। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी का प्रभाव राष्ट्र की धमनियों में स्पन्दित होता रहा। पंडित जी ने

राष्ट्र को एक स्वाधीन तथा विकासशील सत्ता के रूप में मूर्तित किया ।

नेहरू की राजनीति और नैतिक तथा व्यक्तिगत सच्चरित्रता ने कांग्रेस के सभी कार्यकर्ताओं, अनुयायियों तथा नेताओं के सम्मुख एक प्रेरणादायक आदर्श पेश किया । सार्वजनिक जीवन में उनकी पवित्रता और दयानतदारी के परिणामस्वरूप स्वतंत्रता आन्दोलन में एक नव-जीवन का संचार हुआ । भारतीय स्वतंत्रता प्राप्ति की दृष्टि से गांधी जी की भूमिका निःसंदेह विशिष्ट है । परन्तु नेहरू के अन्तर्राष्ट्रीय, सामाजिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने भारत को सम्पूर्ण विकास के मार्ग पर प्रतिष्ठित किया ।

सन् 1947 में एक कठिनाई-भरे समय में नेहरू जी का नेतृत्व और भी उदात्त रहा । उस समय भारत निःसन्देह स्वतन्त्रता आन्दोलन के मध्य में पहुँचा हुआ था । नेहरूजी भारतीय जनता के दार्शनिक मार्गदर्शक तथा उसकी अन्तरात्मा की आवाज के रूप में विश्व मंच पर स्वीकृत हुए । यह सच है कि स्वतंत्रता के प्रारम्भिक फल में कुछ कड़वाहट पैदा हुई—देश विभाजित हो गया । लाखों लोगों को देश के इस पार से उस पार तक जाना पड़ा । साम्प्रदायिक तनाव हुआ, शरणार्थियों के सम्बन्ध में एक भयंकर समस्या उत्पन्न हो गई । देश में आन्तरिक गड़बड़ी का खतरा पैदा हुआ । पाकिस्तान से सैनिक टकराव हुआ और काश्मीर में युद्ध ठन गया । उस समय जीवन-रक्षा की आवश्यकता अधिक थी । नेहरू जी में इस चुनौती को स्वीकार करने के लिए पर्याप्त नमनीयता थी और इसलिए उन्होंने स्थिति का उपयुक्त ढंग से सामना किया और इस प्रकार भारत की आन्तरिक शक्ति को बिखरने नहीं दिया । नेहरूजी ने देश की स्थिरता और एकता के तीन प्रमुख खतरों के खिलाफ निरन्तर युद्ध छेड़ा । वे खतरे थे प्रान्तीयता, साम्प्रदायिक जातीयता । इस कार्य में उनको पर्याप्त सफलता मिली । प्रान्तीयता की भावना से दीर्घकालीन रक्षा के लिए संविधान में केन्द्रीय सरकार को पर्याप्त शक्ति प्रदान की गयी है । केन्द्र में विधान मंडल, कार्यपालिका तथा वित्तीय प्राधिकरण का अधिक केन्द्रीयकरण है । यद्यपि भारतीय गणतन्त्र एक संघीय प्रकार की सरकार प्रतीत होती है तथापि कुछ दृष्टि से यह एक यूनिटरी किस्म की सरकार भी कही जाती है ।

पंडित जी देश में विघटनकारी प्रवृत्ति के विरुद्ध एकता और अखंडता के विचारों को लोगों के सम्मुख प्रस्तुत करते रहे हैं । देश की पंचवर्षीय योजनाओं में भी राष्ट्रीय एकता की भावना को बनाये रखा गया और उनमें एक भव्य आर्थिक भविष्य की आशा की आधारशिला रखी गई । नेहरू जी ने एक ऐसे धर्मनिरपेक्ष राज्य की अवधारणा का स्वरूप स्थापित किया जिसमें सिद्धान्त रूप में बहुसंख्यक हिन्दुओं के समान मुसलमान और अल्पसंख्यक जातियों को भी एक समान अधिकार प्राप्त हुआ । इस सम्बन्ध में वे अल्पसंख्यकों के मन से भय

को दूर करने का यत्न करते रहे। जाति-पाँति के सम्बन्ध में कट्टर हिन्दुओं के मन में जो विचार घर कर चुके थे उनका नेहरू जी ने डटकर विरोध किया। इसी प्रकार उन्होंने गांधी जी द्वारा संचालित अस्पृश्यता निवारण के कार्यक्रमों को भी नेतृत्व दिया। कश्मीर से कन्याकुमारी और कामरूप से कच्छ तक महान देश के विशाल जनसभाओं की प्रयोगशालाओं में एक शिक्षक की नाईं जीवनपर्यन्त इन आधारभूत मूल्यों का परीक्षण करते रहे।

सन् 1947 से भारत के आन्तरिक मामलों में नेहरू जी के यत्नों से कई दिशाओं में महत्त्वपूर्ण प्रगति हुई। ये हैं—राजनीतिक स्थिरता और लोकतन्त्र व्यवस्था की स्थापना, पंचवर्षीय योजनाओं का प्रारम्भ, एक धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना और सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तन। इनके परिणामस्वरूप देश मजबूत हुआ और आगे बढ़ा। संविधान का प्रारूप तो डा० अम्बेडकर ने तैयार किया था, परन्तु उसे मूल दार्शनिकता तथा प्रयोजन-अभिमुखता नेहरू जी ने प्रदान की। उनकी यह भी उल्लेखनीय देन है कि उन्होंने देश में तत्काल निष्पक्ष चुनाव करवाये। विश्व में भारत ही एक ऐसा सबसे बड़ा देश है जहाँ पर गरीबी, अशिक्षा और कई प्रकार की विविधता होते हुए भी निष्पक्ष तथा शान्तिपूर्ण चुनाव करवाये गये। देश के स्वतन्त्र होने के कुछ समय बाद ही लोकतान्त्रिक संविधान लागू कर लिया गया और राष्ट्रव्यापी चुनाव करवाये गये तथा एक संसदीय प्रणाली की सरकार स्थापित की गयी। इसके फलस्वरूप देश में एक सुदृढ़ तथा स्थिर सरकार निरन्तर सुचारु रूप से काम कर रही है। नेहरू जी के महान नेतृत्व में भारत को आर्थिक मामलों में सफलताएँ भी मिलीं। राष्ट्रीय योजना तैयार करना एक ऐसा कार्य है जिसमें भावनाओं को वास्तविकता में लागू करना पड़ता है। भूमिसुधार के क्षेत्रों में नेहरू जी को कारणवश अधिक सफलता मिली। नेहरू जी एक सिद्ध समाजसुधारक थे। उनकी सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने भारतीय मूल्यों की परम्परा में देश में एक धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना की। उन्होंने साम्प्रदायिक सद्भावना उत्पन्न करने का यत्न किया, अस्पृश्यता-निवारण सम्बन्धी कानून बनाया और 'हिन्दू कोड बिल' को पारित करवाया। साम्प्रदायिकता से होने वाले नुकसानों की ओर देश का ध्यान आकृष्ट कराते हुए पंडित जी ने कहा : भारत की ताकत उतनी ही बढ़ेगी, जितना हम आपस में मिलकर आगे बढ़ सकते हैं। साम्प्रदायिकता एक पिछड़े राष्ट्र का चिह्न या निशानी है, आधुनिक युग ही नहीं। लोग अपना धर्म तथा मजहब रखते हैं और उस पर मजबूती से डटे रहने का उन्हें अधिकार है। लेकिन राजनीति में धर्म या मजहब को लाना और देश को तोड़ना वैसा ही है, जैसा कि तीन सौ या चार सौ वर्ष पूर्व यूरोप में हुआ था। भारत में हमें इस चीज से अपने आपको दूर रखना होगा।' ['जवाहरलाल नेहरू

के भाषण' पृ० 56]। संसार में भारतवर्ष में गणतंत्र के समर्थक और भी मिलेंगे मगर जवाहरलाल जैसा सर्व-धर्म-समभाव का अनूठा संस्थापक सिर्फ एक है। अनुयायी अनेक। मगर सारी उदधि में इस 'आब' का मोती नहीं।

पंडित नेहरू में अदम्य स्वाभिमान, अपार निर्णय लेने की क्षमता और चुनौतियों के समय असीम धैर्य रखने की ऊर्जा थी। परन्तु उनकी दृढ़ता को उनकी संवेदनशीलता कभी-कभी तरल बना देती थी। कभी जनमत का आदर करने के कारण वे अपने मनसूबों को मोड़ देते थे। सन् 1940 और 1942 में सिविल असहयोग आन्दोलन के अवसर पर अन्य नेताओं के साथ उन्होंने समझौता किया। वे वास्तव में ऐसे विराट पुरुष थे जिसने ब्रिटिश शासन के दिनों में तथा उसके उपरान्त भी भारत जैसे व्यापक तथा विस्तृत देश के करोड़ों लोगों का मार्गदर्शन किया और देश के उत्थान तथा उद्धार के लिए अथक प्रयास किया। वे वास्तव में राष्ट्रनिर्माता थे। उन्होंने देश में संसदीय लोकतांत्रिक प्रणाली का सूत्रपात किया। उन्होंने देश में योजना-सम्बन्धी तन्त्र का निर्माण किया और भारत की औद्योगिक तथा आर्थिक प्रगति के लिए एक मजबूत और प्रभावकारी प्रतिरूप रखा। देश में खासकर संकट के समय में और भी आत्म-विश्वास की भावना जगाई और विश्व के अन्य देशों में भारत का सिर ऊँचा किया। पंचवर्षीय योजनाओं और सामुदायिक विकास सम्बन्धी परियोजनाओं के परिणामस्वरूप इस विशाल भारत के गाँव-गाँव में प्रगति के अवसर नजर आने लगे और सर्वत्र आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और औद्योगिक विकास का कार्यक्रम परिलक्षित होने लगा। इस उत्थान, उन्नति तथा प्रगति का श्रेय अगर आधुनिक भारत में किसी एक व्यक्ति को दिया जाना चाहिए तो वे निस्संदेह पंडित जवाहरलाल नेहरू हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर नेहरू जी ने अफ्रीकी-एशियाई एकता पर विशेष बल दिया। विश्व के अनेक तत्कालीन विचारक मानते थे कि नेहरू जी वस्तुतः उन विरल व्यक्तियों में हैं जो युद्ध की विभीषिकाओं में फँसे हुए विश्व को शान्ति और प्रेम का संदेश दे सकते हैं। मानवता के इतिहास में पंडित नेहरू एक महान विश्व-पुरुष के रूप में अविस्मरणीय रहेंगे। एक अद्भुत मानवीय प्रतिभा के रूप में इन्होंने अपने देश के करोड़ों नरनारियों को दुःख, दैन्य, भूख, गरीबी, अशिक्षा, अंधविश्वास आदि ऐसे संकटों से उबार कर उन्हें एक स्वतंत्र देश का खुशहाल निवासी ही नहीं बल्कि मनुष्य होने का गौरव प्रदान करने की चिन्ता की। साथ ही एक उच्चकोटि के मानवतावादी के रूप में इन्होंने गरीबी, अशिक्षा, आणविक युद्ध की आशंका से व्याप्त भय और अविश्वास से भरे वातावरण में शांति, सद्भाव और सहयोग के विचारों तथा कार्यक्रमों को स्थापित करने वाले आन्दोलनों, संस्थानों और विश्व-सम्मेलनों का नेतृत्व किया। ये एशियाई संगठन के प्रथम नेता थे जिन्होंने एशिया की सामूहिक सुरक्षा और विकास के लिए ऐतिहासिक

परिप्रेक्ष्य प्रदान किया। पंडित जी के उपर्युक्त योगदान के प्रसंग में उनके द्वारा स्थापित मानवीय मूल्यों पर आधारित गुटनिरपेक्षता की नीति तथा साम्राज्यवाद-विरोधी विचारों के महत्त्व को भी आँका जा सकता है। खासकर इस शताब्दी की इतिहास-धारा पर पंडित नेहरू का प्रभाव उस मूक, परतंत्र और दलित मानवता को उनका वाजिव अधिकार दिलाने वाले मुक्तिदाता के रूप में सर्वाधिक उल्लेखनीय है। अगर हम पंडित जी के सबसे बड़े लक्ष्य का निर्धारण करना चाहें तो वह निस्संदेह लोकतंत्रीय धर्म-निरपेक्ष विश्व-नीति की रचना होगा।

पंडित नेहरू ऐसे युग-प्रवर्तक और विरल प्रतिभाओं से सम्पन्न महापुरुष के योगदानों को ठीक से आँकना सहज नहीं है। इसलिए कि विरल योग्यता और उपलब्धियों से भरे-पूरे व्यक्तियों का यह भी लक्षण होता है कि वे प्रत्येक युग और काल के विचारकों के लिए निरन्तर अपनी मूल्यवत्ता का नया आयाम प्रस्तुत करते हैं। फलस्वरूप वे मूल्यांकित होकर भावक की क्षमता का भी प्रकारांतर से मापन करते हैं। पंडित जी के प्रति आधुनिक भारत और विश्व की हार्दिक श्रद्धांजलि यही होगी कि सारी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय मानवी शक्तियाँ, सद्-भावना और सहयोग द्वारा अपने देश और दुनिया को गरीबी, भय, घृणा और युद्ध के आतंक से मुक्त करने में संगठित हों। विशेषकर हम भारतीयों को अपने महान नेता के शताब्दी वर्ष पर उनके सपनों के अनुरूप राष्ट्र की एकता, अखंडता और सार्वभौमिकता को सुरक्षित करने के लिए तन-मन-धन से बड़ा से बड़ा बलि-दान करने के लिए संकल्प लेना चाहिए।

पंडित जी चले गये हमें छोड़कर मगर देशधर्मिता को बहुआयाम देने का उनका प्रयत्न राष्ट्रकवि 'दिनकर' के शब्दों में अब भी भरतदेश के कण-कण में गूँज रहा है —

"जवानी जिसके कारण जली
सहा जिसके हित वय में क्लेश
पिघलने दो कण-कण कर हमें
कि सुख से जीये हमारा देश।

और तू भी सपनों को बंधु
स्वेद की बूँदों बीच उतार
इन्हीं बूँदों में मन से उतर
कल्पना आयेगी आकार।।

कवि 'आजाद' के शब्दों में पंडित जी जहाँ भी, योनियों के जिस घाट पर हों, देश को काल धर्म का जो नया अर्थ दे गये हैं, उसे भारतवासी याद रक्खेंगे—

महापंथ पर तन अर्पण की कथा अनोखी
जाते राही राह अमर कर,
कुंडल कवच सदा जगर्चचित :
काल धर्म को नया अर्थ दे
कालजयी चल दिये मार्ग पर
नये गेह को कितने हर्षित।—('मृत्यु जीवन' महाकाव्य से) □

तीन

विश्वात्मा के अपूर्व अन्वेषक सर्वपल्ली राधाकृष्णन

उन्नीसवीं शताब्दी का अंतिम चरण। भारत के सुदूर दक्षिणांचल में अपने अज्ञान और असहायता के परिवेश में लिपटा-सोया तिरुताणि नाम का छोटा-सा गाँव। सीधे-भले, अभाव के चिरसंगी श्री वीर-स्वामी का वह आस्थावान परिवार। और उस दिन पाँच सितम्बर को परिवार में उज्ज्वल नक्षत्र का उदय अर्थात विश्व शिक्षक राधा-कृष्णन का जन्म।

अभाव के परिवेश ने विकसित किया उनमें अध्यवसाय और अद्‌भुत आत्मनिर्भरता। शुरू से ही साधना उनकी चिरसंगिनी बन गई। अपनी शिक्षा के खर्च को पूरा करने के लिए अंत तक उन्होंने निजी अध्यापन का सहारा लिया। अध्यापन के इस दौर में उन्हें इस कार्य में इतना रस मिलने लग गया था कि शिक्षा पूरी करने के उपरान्त अन्य किसी व्यवसाय की अपेक्षा नहीं की। उन्होंने इस क्षेत्र को अपनी अप्रतिम प्रतिभा का दान देना अधिक श्रेष्ठ माना। 1909 में मद्रास के प्रेसीडेंसी कालेज से अपना अध्यापक जीवन आरम्भ किया। तब से देश-विदेश की अनेक शिक्षण-संस्थाओं को अपने गहन चिन्तन, परम

पांडित्य और विरल वाग्मिता का लाभ देते हुए 1939 में उन्होंने महामना मालवीय जी के अनुरोध पर बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति पद का दायित्व स्वीकार किया। इस विश्वविद्यालय के ऐतिहासिक प्रतिष्ठापन का श्रेय मालवीय जी को है, विस्तार और परिष्कार के लिए यह संस्था निश्चयपूर्वक सर्व-पल्ली राधाकृष्णन की ऋणी है। शिक्षा-जगत की 40 वर्षों तक अनवरत सेवा के उपरान्त 1949 में पंडित जवाहरलाल नेहरू के आग्रह पर उन्हें राजनयिक-पद स्वीकार करना पड़ा। वह जिस रूप में भारत के राजदूत नियुक्त किये गये, वह आधिभौतिकता का पुजारी था। किन्तु भारत का वह दूत राष्ट्र की आध्यात्मिक संस्कृति की धरोहर का प्रबल संरक्षक और प्रवक्ता था। इस स्थिति में उन्होंने रूस में भारत की जो छवि प्रस्तुत की उसका प्रमाण उनके व्यक्तितत्व से प्रभावित स्टालिन का यह छोटा-सा यह उद्‌गार है कि, "यह व्यक्ति प्रबल देश-भक्त है।"

ऐसे महान शिक्षक पर भारतीय शिक्षा-जगत् को गर्व होना सर्वथा उचित है। उनके जन्म-दिन को शिक्षक-दिवस के रूप में मनाना उस ऋण की एक विनम्र उपयुक्त स्वीकृति-मात्र है। मेरी मान्यता है कि राधाकृष्णन केवल भारत के ही शिक्षक नहीं थे, अपने दर्शन और चिन्तन के रूप में उन्होंने जो कुछ दिया, वह उन्हें विश्व-शिक्षक की पंक्ति में आसीन करता है, इसलिए कि उनके विचार सम्पूर्ण मनुष्य-जाति के लिए प्रासंगिक हैं। राधाकृष्णन ने एक प्रकांड चिन्तक के रूप में पूर्व और पश्चिम, ब्रह्माण्ड के बाह्य तथा आंतरिक पक्षों, दर्शन और विज्ञान आदि अनेक विभिन्न द्वन्द्वों और तात्विकताओं के मूल-स्वरूप का गहन मंथन किया। इन्होंने अपनी मौलिक खोज द्वारा इस सृष्टि की सम्पूर्ण विरासत के समन्वित और समान स्थल का उद्घाटन किया। और, इस प्रकार पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर सही तत्त्व द्रष्टा के रूप में सृष्टि के चरम सत्य का साक्षात्कार करते हुए सदा संपूर्ण मानवता के मंगल के लिए संसार को सही दिशा प्रदान की। राधाकृष्णन ने प्रसंग-वश शिक्षक के परम कर्तव्य पर विचार करते हुए अरस्तू की इस मान्यता का उल्लेख किया है कि शिक्षक केवल खाली घड़ों को नहीं भरता, बल्कि वह ज्ञान के पिपासुओं की दृष्टि को ही बदल देता है। राधाकृष्णन का व्यक्तित्व और कृतित्व उन्हें सर्वप्रथम बीसवीं शताब्दी के ऐसे महान शिक्षक के रूप में प्रमाणित करता है जिसने किसी एक वर्ग, जाति सम्प्रदाय, देश आदि का नहीं, वरन् पूरे संसार के सही विवेक को जाग्रत किया और उसके देवत्व को जगाया। आत्म-परिचय देते हुए राधाकृष्णन ने भी एक जगह लिखा है, "मैं मूलतः एक अध्यापक हूँ।"

राधाकृष्णन का लालन-पालन भौतिक संपन्नता के वातावरण में भले नहीं हुआ, किन्तु उस परिवार में सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक संस्कार की प्रचुरता थी। ऐसे पारिवारिक वातावरण में राधाकृष्णन अपने धर्म, संस्कृति तथा भारतीयता के प्रति श्रद्धावान हुए। उनकी शिक्षा ईसाई मिशनरियों की शिक्षण संस्थाओं में हुई

थी। उन्होंने स्वीकार किया है कि इन संस्थाओं के शिक्षकों ने हिन्दुत्व की आलोचना करके उनकी श्रद्धा को विचलित कर दिया और शंका की स्थिति में डाल दिया। ('फ्रैगमेन्टस ऑफ ए कन्फ़ेशन')। शंकाग्रस्त होने की इस उर्वर स्थिति में राधाकृष्णन हिन्दुत्व पर दार्शनिक ढंग से विचार करने को प्रेरित हुए। हिन्दू धर्म का विधिवत अध्ययन करते-करते राधाकृष्णन इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भारतीय धर्म-दर्शन में विचारों की स्वतंत्रता एवं मन के अनुशासन के सिद्धान्तों को परादर्श धरातल पर सिद्ध किया गया है। भारतीय द्रष्टाओं के चिन्तकों की अन्त-र्दशिनी दृष्टि, मूल ध्येय और विचारों के ढाँचे आज भी सच्चे और प्रासंगिक हैं। शायद भारतीय दर्शन पर उठाये गये अपने उन शिक्षकों के सवालों की सही खोज करने के लिए उन्होंने एम० ए० की परीक्षा में निबंध रूप में 'अद्वैत वेदान्त की नीतिमीमांसा' विषय चुना। इनके गहन चिंतन को पढ़कर इनके शिक्षकों का ही नहीं विश्व के अनेक ऐसे पाश्चात्य विचारकों का यह भ्रम निवारण हुआ कि भारत के पास कोई ऊँची नीतिमीमांसा नहीं है।

हिन्दू नीतिशास्त्र पर अव्यावहारिक और कर्म-विरत शुष्क शिक्षा के समर्थक होने के आक्षेप का निराकरण करते हुए राधाकृष्णन कहते हैं कि "हिन्दू दृष्टिकोण में आत्मा को पूर्ण बनाने का अर्थ है--संकीर्ण व्यक्तिगत जीवन से निकलकर स्वतंत्र सृजनात्मक आध्यात्मिक जीवन में प्रविष्ट होना, इसका अर्थ है हमारे जटिल जीवन को सत्य की महान गति के साथ सामंजस्य की स्थिति में लाना। यह असामाजिक होना नहीं है, न जीवन के स्वाभाविक सम्बन्धों से घृणा करना है, न एक प्रकार की आत्मकेन्द्रित आध्यात्मिक अहम्मन्यता का शिकार होना है।' ('प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार', पृ 122) राधाकृष्णन सही अर्थों में विश्व-पुरुष के रूप में भारत और संसार के सभी धर्मों के सारभूत अंश के प्रति उदार दृष्टिकोण रखते हैं। भारत की सामासिकता के प्रसंग में उनकी मान्यता है कि विश्व के सभी धर्मों के अनुयायी यहाँ रहते हैं। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी, पारसी आदि सभी धर्मों के लोग भारत के नागरिक हैं। सभी लोग शांति और भाईचारे के साथ रहते हैं। इसका श्रेय इस देश की परम्परा को है। हमारे देश के धर्मों की यह परम्परा रही है कि उनमें दर्शन सिद्धान्त या रूढ़िगत आचार से ज्यादा महत्त्व विश्व के रहस्य-मय अंतिम तत्त्व को खोजने में मनुष्य द्वारा किये जाने वाले तात्विक प्रयत्नों को दिया जाता है ('हमारी विरासत', पृ० 9)।

पश्चिमी आधिभौतिकता की सीमाओं पर राधाकृष्णन ने स्पष्टता के साथ विचार किया है ('दि स्पिरिट ऑफ़ मैन')। इनकी दृष्टि में यहाँ जो प्रमाणित किया जा सके उसी को मनुष्य मानता है। जिसे अन्तरात्मा की आवाज कहते हैं वह अवैज्ञानिक कल्पना है। यहाँ आध्यात्मिक जीवन प्रवंचना और स्वप्न है। यह बुद्धिवादी पैगम्बरों की दुनिया है, स्वार्थ में डूबे व्यक्तियों की दुनिया है। इस

दुनिया में उद्योगवाद और पूंजीवाद से निकली एक भयानक आर्थिक पद्धति राज कर रही है। इसमें तकनीकी सफलताओं और बाहरी जीतों की धूम है, शारीरिक सुविधाओं और पाशविक विलासिता की सामग्री की बाढ़ है। यहाँ पाशविकता और रक्तपात का सहारा लेकर तानाशाही फैल रही है। मनुष्य के पास भरोसा नाम की कोई चीज शेष नहीं रह गयी है। मनुष्य के भीतर बसने वाले देवता की अपेक्षा के कारण आदमी बीमार हो गया है। उसकी आत्मा रुग्ण हो गयी है। विवेक को तिलांजलि देकर इस तरह अज्ञात लक्ष्य की ओर बढ़ते जाना श्रेयस्कर बात नहीं है। जीव-विज्ञान का प्रभाव मनुष्य पर यह हुआ है कि वह किसी भी कार्य में अपने को स्वतंत्र नहीं मानता। उनका विश्वास है कि प्राकृतिक नियमों की अधीनता में जैसे अन्य जीव चलते हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी चलता है। परिस्थितियाँ जैसी होंगी, मनुष्य का आचरण भी वैसा ही होगा। मनोविज्ञान ने यह सिखाया है कि मनुष्य वातावरण का वन्दी है। बुराई को सहन करने का इससे अच्छा तर्क और कुछ नहीं हो सकता था। निस्संदेह जिस अवस्था का डा० राधाकृष्णन ने यहाँ चित्रण किया है वह पाश्चात्य आधिभौतिकता की देन है, किन्तु उससे अछूता आज का प्राच्य संसार भी नहीं है।

किन्तु जिस प्रकार हिन्दू धर्माचार की कुरीतियाँ भारतीय चिन्तन की मूलभूत कल्याणकारी शक्ति को इस विचारक की उज्ज्वल दृष्टि से ओझल नहीं कर पाईं, उसी प्रकार विज्ञान तथा उद्योगवाद के ये तमाम दोष इस द्रष्टा के सामने उनके गुणों पर आवरण नहीं डाल पाये। उनकी दृष्टि में विज्ञान सार्वभौम तत्त्व है। जैसे देश-देश के धर्म एक दूसरे से आगे निकल जाने को बेचैन हैं वैसी स्पर्धा विज्ञान में नहीं है। वैज्ञानिक अनुसंधान विश्व के जिस कोने में भी हो, सारे विश्व के वैज्ञानिक उसे अपने क्षेत्र की प्रगति मानते हैं। कृषि और उद्योग में वैज्ञानिक साधनों के प्रयोग से अद्‌भुत क्रांति उपस्थित हो गयी है। यदि हम चाहें तो अब संसार से क्षुधा, अभाव, दरिद्रता, रोग और अशिक्षा को निकाल बाहर कर सकते हैं। उनकी यह भी मान्यता है कि आज का औसत वैज्ञानिक औसत धार्मिक व्यक्ति से अधिक ईमानदार है। आधुनिक विश्व में सामाजिक प्रगति के भी प्रायः सारे कार्य ऐसे ही लोगों के नेतृत्व में पूरे किये गये हैं जिनकी दृष्टि चाहे धार्मिक रही हो या नहीं, वैज्ञानिक अवश्य थी।

मुक्त चिन्तक की तरह राधाकृष्णन में पूर्व और पश्चिम दोनों में से किसी के प्रति किसी प्रकार का पूर्वाग्रह नहीं है। उन्होंने दोनों के दोषों की ओर निर्भीकता से इंगित किया और दोनों के गुणों को स्वीकार किया। दिनकर ने ठीक ही कहा है कि राधाकृष्णन भारतीय सांस्कृतिक महाजागरण के रवीन्द्र, गांधी, अरविन्द आदि प्रमुख प्रतिनिधियों की तरह भी केवल भारतीय संस्कृति की उपज नहीं थे, वरन् उनकी उत्पत्ति के पीछे यूरोपीय ज्ञानधारा का भी हाथ था। उनका

आविर्भाव भारतीय विचारधारा के व्याख्याता के रूप में हुआ, किन्तु पाश्चात्य विचारधारा का भी उन्होंने थोड़ा आख्यान नहीं किया। उन्होंने भारत की व्याख्या यूरोप के सामने और यूरोप का आख्यान भारत के समक्ष किया। इससे भी बड़ी बात यह है कि उन्होंने दोनों विचारधाराओं के बीच समन्वय का संधान किया। 'ईस्टर्न रिलीजन एवं वेस्टर्न थाट' में वह कहते हैं : "सभी मानवों की मनोदशाएँ और रीतियाँ अब एक ही मानव-चेतना के अंश हैं। मनुष्य का दर्शन मनुष्य है। क्षितिज पर एक नये मानवतावाद का उदय हो चुका है। इस बार वह भेद-भाव से ऊपर उठकर समग्र मानव-जाति का आलिंगन करेगा।"

जीवन-संघर्ष के थपेड़ों से त्रस्त अखिल मानवता के त्राण के लिए राधाकृष्णन ने जो मार्ग सुझाया वह है—धर्म का मार्ग। उनकी मान्यता है कि मानवता की वर्तमान अवगति का कारण यह है कि उसने धर्म को छोड़ दिया है। क्षितिज पर उन्होंने जिस नये मानवतावाद को उदित होते देखा, वह अपनी पूर्णता धर्म की कुक्षि में जाकर प्राप्त कर सकता है। राधाकृष्णन के विचार में धर्म वह नहीं है जिसका प्रतिपादन वेद या कुरान, बाइबिल या जेन्दआवेस्ता अथवा त्रिपिटकों में किया गया है। यह धर्म है आत्मा का धर्म। धर्मग्रन्थों का प्रमाण देकर किसी बात को मनवाना आत्मा के धर्म के विरुद्ध है। इसका मतलब यह नहीं कि अन्य धर्म-ग्रन्थ त्याज्य हैं। समाधि में जाकर ही मनुष्य सम्बोधि प्राप्त करता है या ईश्वर का साक्षात्कार करता है। इन आध्यात्मिक अनुभूतियों के धरातल पर सभी धर्म सत्य हैं और सभी एक हैं। यही वह आत्मा का धर्म है। यह धर्म व्यक्ति की अपनी अनुभूति का विषय है। बाह्य आचार और अनुष्ठान तो निचले स्तर की क्रियाएँ हैं। धर्म मन की एकाग्रता और समाधि में जागता है। धर्म का आधार आत्मिक अनुभूति की भाषा है। बुद्धि का प्रत्येक तर्क स्वयं को काटने वाले किसी अन्य तर्क को जन्म देता है। किन्तु प्रत्येक मनुष्य को कहीं न कहीं पहुँचकर अपने-आपका विश्वास करना ही पड़ता है। इस स्थिति में पहुँचने पर हमें लगता है, मानो हम किसी बड़ी सत्ता के सम्पर्क में आ गये हैं। मनुष्य का यह आंतरिक प्रसार ही सच्चा धर्म है। यह धर्म सम्पूर्ण जीवन की पद्धति है। यह नश्वर में अविनश्वर, अचिर में चिर का अनुसंधान है। धर्म जीवन का स्वभाव है। ऐसा नहीं हो सकता, हम कुछ कार्य तो धर्म की उपस्थिति में करें और शेष कार्यों में उसे भुला दें। धर्म ज्ञान और विश्वास के साथ ही कर्म और आचरण की भी वस्तु है। यदि हमारा ईश्वर में विश्वास है तो वह हमारे समस्त आचरण में प्रतिबिम्बित होना चाहिए। किन्तु धर्म के द्वारा वह मनुष्य के भीतर जो अनुभूति जगाना चाहते हैं, मनुष्य को जिस लोक में ले जाना चाहते हैं उसका साधन बुद्धि नहीं, सहज ज्ञान है।

राधाकृष्णन बुद्धि पर आधारित होने से—'फिलासफी' को भी अपूर्ण मानते हैं। उनका कहना है कि तत्त्वचिंतन हमें गंतव्य तक ले जाता है, किन्तु उसमें प्रवेश

नहीं करा पाता। उसके लिए आध्यात्मिक अनुभूति का सहारा लेना होगा। सत्य का वास बुद्धि के धरातल से परे बड़ी गहराई में है। इस गहराई तक हम केवल सम्यक् ज्ञान के द्वारा ही पहुँच सकते हैं। तर्कों का सहारा लिए बिना भी मनुष्य यह ज्ञान प्राप्त कर लेता है। यह ऐसा सत्य है जो तपस्वियों पर अनायास प्रकट हो जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य के भीतर एक शक्ति होती है, जो उसे तर्कों के बिना ही सत्य का ज्ञान करा देती है। मनुष्य अपने अन्दर इस शक्ति को जाग्रत करके ही बौद्धिकता के दोषों से अपना बचाव कर सकता है। सम्यक् ज्ञान को एक उदाहरण के द्वारा समझाते हुए वह कहते हैं, "अनुसंधानों और आविष्कारों के काम केवल तर्क के नियम से नहीं चलते। आविष्कारों के भीतर विचारों के इतने गहरे आन्दोलन चलते रहते हैं कि वे तर्क के नियंत्रण में नहीं रखे जा सकते। हम आविष्कार सम्यक् ज्ञान के बल पर ही करते हैं। यह अवश्य है कि उसे प्रमाणित करते समय हमें तर्क से काम लेना पड़ता है" ('आइडियलिस्ट व्यू ऑफ़ लाइफ़')।

राधाकृष्णन की स्पन्दित मनस्विता आधुनिक सभ्यता के वैज्ञानिक स्वभाव, पार्थिव तथा धर्मनिरपेक्ष दृष्टि और उन्मूलित विश्वासों से उत्पन्न रिक्तता, अनिश्चितता और अशांति के मूल कारणों की खोज करते हुए अन्तरात्मा के निर्देशन की पकड़ और पहचान का आह्वान करती है। जीवन के प्रति पूरी आस्था रखते हुए डॉ० राधाकृष्णन पतंजलि, बुद्ध, शंकर, गांधी, रवीन्द्रनाथ आदि मनीषियों की पंक्ति में खड़े होकर ही नहीं वरन् उनके द्वारा प्रदर्शित सन्मार्ग के नये आयाम को प्रकाशित करते हुए भी क्षितिज पर उदय हो रहे नये मानववाद तथा विश्वचेतना से तादात्म्य होने का संदेश देते हैं। वे आज आदमी की सबसे बड़ी जरूरत या सोच को उपयुक्त सन्दर्भ देते हुए कहते हैं : "हमको मानव जाति की आत्मा को स्पर्श करना है, क्योंकि आत्मा ही रूप को रूप और देह को देह बनाती है। हमें अपने लिए ऐसे आदर्शों, प्रवृत्तियों और भावनाओं का संस्कार करना है जो हमको एक विश्व समाज का निर्माण करने और इस आस्था के लिए काम करने वाले राष्ट्रमण्डल-सहकार में रहने योग्य बना सके" ('प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार') इसलिए वे भारत की अपूर्व खोज के रूप में 'अद्वैत' को सर्वोपरि मानते हुए विश्व चेतना को आत्मा प्रदान करने और विश्वात्मा को रचनात्मक अभिव्यक्ति देने के कर्त्तव्य को वर्तमान मानव-पीढ़ी के लिए शेष किन्तु मूल्यवान उत्तरदायित्व मानते हैं।

तत्त्वचिंतकों के अधिकांश कृतित्व मानसिक व्यायाम की उपज रहे हैं। किन्तु राधाकृष्णन दर्शन को मानसिक व्यायाम की वस्तु नहीं मानते। उनका कहना है कि दर्शन भी मनुष्य की समकालीन आवश्यकता से जन्म लेता है और उसका उद्देश्य मनुष्यों की जिज्ञासा का समाधान करना है। इसलिए उन्होंने जो कुछ लिखा वह केवल बुद्धि की तुष्टि के लिए नहीं है, उससे समकालीन समस्याओं का समाधान

प्राप्त होता है। उनका दर्शन तर्क से निकल कर तर्क में ही विलीन नहीं होता, वह मनुष्य के हृदय में प्रवेश करता है। वह सोद्देश्य दार्शनिक हैं और उसका उद्देश्य मनुष्य को पूर्णता, स्वतंत्रता और शान्ति प्रदान करना है—चाहे वह मनुष्य पूर्व का हो या पश्चिम का। इसीलिए वह देश की परिधि और सीमा से परे ऐसे विश्व शिक्षक हैं जो पूर्ववर्त्ती सर्वदेशीय चिन्तन के सारभूत और सार्थक अंशों को आत्मसात करते हैं। अद्भुत प्रतिभाशाली सत्यद्रष्टा के रूप में ये भारतीय तत्त्व चिन्तन की मांगलिक परम्परा में शताब्दियों के अन्तराल के बाद अजात विश्व-आत्मा की खोज करते हैं और ईर्ष्या, द्वेष, भय, अनाचार आदि के कोलाहल से उन्मथित आज के संसार में दया, क्षमा, सहिष्णुता, परोपकार निर्भयता आदि को मृत्युंजयी स्वर देते हैं। □

चार

आत्मबलिदान की गौरवगाथा श्रीमती इंदिरा गांधी

बीसवीं शताब्दी के क्षितिज पर जिन महान नक्षत्रों की रोशनी जगमगाई, उनमें से भारतीय अस्मिता और आत्मशक्ति की प्रतिमूर्ति श्रीमती इन्दिरा गांधी अविस्मरणीय हैं। इन्दिरा जी का विलक्षण व्यक्तित्व ऐसी अद्भुत मानवीय ऊर्जाओं से भरा हुआ था कि उनमें से किसी एक को छोड़कर दूसरे को रेखांकित करना संभव नहीं है। कठिन चुनौतियों का सामना करनेवाली उनकी बुलन्द हिम्मत और अपने लक्ष्य के प्रति उनकी अडिग आस्था उनके मुखमंडल से आभासित होती थी। उनकी विरल दूरदर्शिता और अन्तर्दृष्टि कभी उनकी वाणी और कभी उनके मौन से भी बिम्बित होती थी। अपने देश की जनता के साथ सारी मानवता की नियति की चिन्ता तो इन्दिरा जी को विरासत में मिली थी। समानता, स्वतन्त्रता, मानवीय गरिमा आदि उच्चतर मूल्यों के प्रति श्रीमती गांधी की जो प्रगाढ़ प्रतिबद्धता रही, वह आज विश्व की गौरवगाथा का अभिन्न अंग बन गई है। निश्चयपूर्वक श्रीमती गांधी का शानदार जीवन एक ऐसे सच्चे पुरुषार्थ की कहानी है जिससे कोई भी निराश्रित, प्रताड़ित

और दलित व्यक्ति, समुदाय और देश अपने गौरव तथा गरिमा के लिए संकल्प तथा साहस का अपार प्रकाश पा सकता है।

श्रीमती इन्दिरा गांधी विश्व के एक ऐसे विख्यात महापुरुष की सुपुत्री थीं। पंडित नेहरू ने अपने सपनों को अपने बाद भी साकार होते रहने के लिए अपनी उस सन्तान को महानता की सही परिभाषा समझाई थी। पं० जवाहरलाल नेहरू ने पुत्री के नाम पिता के पत्र में एक जगह कहा है कि जो महान होते हैं वे इतिहास के बड़े हिस्से ही नहीं होते, खुद भी इतिहास हो जाते हैं। अपनी पैतृक विरासत को श्रीमती गांधी ने सँजोया ही नहीं, हर मानी में उजागर कर दिया। अनेक प्रसंगों में इन्दिरा जी ने भावविभोर हो अपने पिता, माता और अन्य स्वजनों के विलक्षण गुणों का स्मरण किया है। इन्दिरा गांधी की महानता का यह भी एक पक्ष है कि उन्होंने अपनी विरासत को केवल विकसित ही नहीं किया, बल्कि उसे अद्वितीय आयाम भी दिया। श्रीमती गांधी के प्रबल सृजनात्मक व्यक्तित्व के केन्द्रीय स्थल को निर्धारित करना सर्वथा कठिन है; किन्तु अपने जीवनकाल में इन्दिरा जी ने देश और विदेश की अनेक संकटपूर्ण स्थितियों में अपनी जिस जादुई क्षमता का अमिट अनुभव अपने समय के मन-प्राणों पर छोड़ा है, वह है उनकी अदम्य इच्छा-शक्ति। चुनौतियों, अवरोधों और कठिनाइयों ने उनकी इस जीवनी-शक्ति की भरपूर परीक्षा ली है, किन्तु उसे भरपूर सँवारा भी है। इन्दिरा जी की शानदार सफलताओं का इतिहास दुनिया के एक बहुत बड़े गणतंत्र प्रधानमंत्री की हैसियत से किये हुए राष्ट्रनिर्माण की ही बड़ी कहानी है। साथ ही यह कहानी एक ऐसे असाधारण मनुष्य की भी है, जो अपने देश की अखंडता, स्वतंत्रता और पहचान को हर कीमत पर सुरक्षित रखने के लिए शताब्दियों के बाद लोकनायक बनकर अवतरित होता है। इन्दिरा जी ने देश-वासियों से नजदीकी संवाद करते हुए संकट के समय अपनी आत्मा की जिस आवाज को व्यक्त किया था, वह है—"हम कैसा भारत चाहते हैं ? यह आज हमारा प्रश्न है। चाहे हम गरीबी से लड़ें, चाहे हम ऐसी साम्प्रदायिकता से लड़ें, हमारा ध्येय एक ही है कि भारत को महान बनाना है, चाहे कोई भी कुर्बानी हो, कोई भी उसके लिए त्याग देना हो।" (भाषण, बम्बई, 28 दिसम्बर, 1969)।

इन्दिरा जी ने विश्व की महान आध्यात्मिक विरासत और सफल लोकतंत्र के इस देश भारत का मार्ग-दर्शन 16 वर्षों तक समर्पण और साधना के साथ किया। देश को हर तरह से मजबूत, आतमनिर्भर और विकासशील बनाने की दिशा में उन्होंने प्रधानमंत्री के रूप में जो निर्णय लिये और कार्यक्रम प्रस्तुत किये उनसे श्रीमती गांधी के ऐतिहासिक नेतृत्व के प्रति राष्ट्र के मानस में गहरी श्रद्धा और विश्वास का भाव जगा। इससे भारत के प्रधानमंत्री पद की गरिमा के साथ उस पद के उत्तरदायित्व-निर्वाह के लिए अपेक्षित विलक्षण मानवीय गुणों का भी

एक आदर्श प्रतिरूप प्रस्तुत हुआ। इन्हीं कारणों से यह देश उनकी याद उस समय और भी करता है जब उसकी सार्वभौमिकता तथा सामासिकता को नष्ट करने-वाली पार्थक शक्तियाँ देश के बाहर और भीतर सर उठाती हैं। हिन्दुस्तान यह कभी भी भूल नहीं सकता कि उसके इस प्रिय नेता ने देश के स्वाभिमान की कीमत पर कोई समझौता नहीं किया, किसी दबाव के आगे सर नहीं झुकाया। इस तथ्य के अनेक जीवंत प्रमाण हैं। खासकर 1971 के भारत-पाक-युद्ध के दौरान जब एक शक्तिशाली देश का सातवाँ बेड़ा भारत की सरहदों की ओर बढ़ रहा था, तब इन्दिरा जी के चेहरे पर शिकन तक नहीं आई थी। इसी प्रकार फिरकापरस्त अलगाववादी और षड्यंत्रकारी ताकतों ने अपने नापाक इरादों के जाल फैलाकर जब भारत को टुकड़ों में बाँटने की साजिश करने लगीं तो इंदिरा जी की अनु-करणीय दृढ़ता और निर्भयता ने डटकर उनका मुकाबला किया। वे उन समकालीन राजनीतिज्ञों पर तुरन्त कड़ा प्रहार करने से बाज नहीं आईं जो प्रतिक्रियावादी होकर देश की विकास-धारा को अवरुद्ध करना चाहते थे। ऐसी विनाशकारी शक्तियों को पहचानने और उनसे हर कीमत पर लोहा लेने का आह्वान करते हुए इंदिरा जी की राष्ट्र-आत्मा की यह अमरवाणी अपूर्व है : "अभी लड़ाई आरम्भ हुई है और लड़ाई बहुत जबरदस्त होनेवाली है और शायद बहुत लम्बी भी होगी। मुझे पूरा विश्वास है कि मुझमें उसका सामना करने की शक्ति है। मैं आपसे पूछना चाहती हूँ कि आपमें वह शक्ति है कि नहीं ? आपमें वह एकता है कि नहीं ? आपमें वह हिम्मत है कि नहीं ?···मैं रहूँ या न रहूँ यह कोई महत्त्व की बात नहीं है। महत्त्व की बात यह है कि जो भी नेतृत्व करे वह ठीक रास्ते पर चलेगा कि नहीं ?" (उन्नाव, 7 सितम्बर 1969, भाषण का अंश)।

आज का भारत चाहे उसके आहत स्वाभिमान से उपजा हुआ उसका संकल्पित राष्ट्र-प्रेम हो या विश्व की कुछेक सैनिक महाशक्तियों की पकड़ से निकालकर विकासशील देशों को विश्व-मंच पर समानता, गुटनिरपेक्षता और सहअस्तित्व के सिद्धान्त पर पुनर्गठित करने की यशस्वी भूमिका हो अथवा अन्तरिक्ष में शान्ति तथा सुरक्षा के इरादे से अधुनातन उपग्रहों से उड़ान भरने के पहल हों—ये सभी श्रीमती गांधी की यशः-कीर्ति के प्रतीक और प्रमाण हैं। निश्चयपूर्वक भारत को स्वावलम्बी और सुदृढ़ बनाने के लिए श्रीमती इंदिरा गांधी की लक्ष्यमुखी कोशिशें अविस्मरणीय हैं। इंदिरा जी द्वारा नये भारत के नव-निर्माण में हमेशा बड़े परिवर्तनों के लिए और विकास के वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में उतारने के लिए भारत की सुनियोजित तैयारियों का एक लम्बा सिलसिला दिखाई पड़ता है। यह सही है कि बहुत ही सौभाग्य से किसी राष्ट्र को अपने सपनों को साकार करने में समर्थ नेतृत्व का स्वर्णिम संयोग प्राप्त होता है। निस्संदेह इस उक्ति की परम सार्थकता श्रीमती गांधी के कालजयी कृतित्व में आभासित है।

पंडित नेहरू द्वारा समाजवादी ढाँचे पर स्थापित भारत को आगे बढ़ाने के लिए श्रीमती गांधी ने गहरी सूझबूझ और प्रतिबद्धता दिखाई। वैज्ञानिक विकास और समाजिक न्याय की परस्परता से उभरे हुए मुल्क के मंसूबों से ही समाजवादी रचना अपने सपनों को साकार कर सकती है। इन्हीं कारणों से इन्दिरा जी ने देश ही नहीं विदेश के मामले में भी पिता द्वारा दर्शित मार्ग का अनुसरण किया और सदा लोकतंत्रीय संस्थानों, विश्वासों, और प्रणालियों की जड़ को मजबूत करते हुए उसकी शाखाओं को फैलाया। इस प्रसंग में श्रीमती गांधी की धर्म-निरपेक्षता तथा गुटनिरपेक्षता सम्बन्धी नीतियों और कार्यक्रमों को लिया जा सकता है। धर्मनिरपेक्षता को तो उन्होंने महात्मा गांधी के बाद देश में सबसे अधिक मानव-मानव के बीच स्थायी सेतु बनने का आधारभूत तत्त्व सिद्ध किया। सच पूछा जाय तो इस धर्मनिरपेक्षता के गौरव की रक्षा के लिए इन्होंने मानव-सभ्यता के इतिहास में सर्वोच्च बलिदान देकर अपने जन्म से भी अधिक अपनी मृत्यु को महान बना दिया। धर्मनिरपेक्षता के सम्बन्ध में उनके दृढ़ विचारों की झलक इस उद्धरण में देखी जा सकती है : 'धर्मनिरपेक्षता और मानवता के लिए इस बात की जरूरत नहीं है कि सभी धर्मों का समान रूप से आदर किया जाए। हमारा यह कर्त्तव्य भी हो जाता है कि हम इस सिद्धान्त की रक्षा करें और लगातार उन ताकतों का मुकाबला करें जो धर्मनिरपेक्षता के विरुद्ध हैं। हममें से हरएक, जो भारतीय होने का दावा करता है, उसका यह कर्त्तव्य है कि वह धर्म-निरपेक्षता के सिद्धान्त का समर्थन करे क्योंकि इसके बिना हम लोकतंत्र की रक्षा नहीं कर सकेंगे और समाजवाद की ओर नहीं बढ़ेंगे।" ('संदेश', नई दिल्ली, 7 फरवरी 1970)।

विश्व की राजनीतिक चेतना के इतिहास में अगर जवाहरलाल नेहरू गुट-निरपेक्षता आन्दोलन के मसीहा हैं तो इन्दिरा जी हैं उसकी प्राण-शक्ति। सितम्बर 1970 को लुसाका में होने वाले गुटनिरपेक्ष देशों के सम्मेलन में इंदिरा जी ने जिस निर्भीकता और निश्चय के साथ अंगोला, मोजाम्बिक, जिम्बाबे, नाम्बिया आदि देशों द्वारा साम्राज्यवादी तथा रंगभेद नीति पर खड़ी शक्तियों के खिलाफ किये जाने वाले संघर्ष को अपना खुला समर्थन ही नहीं बल्कि अभूतपूर्व नेतृत्व प्रदान किया। उस समय युद्ध और शान्ति, मनुष्य और उसकी नियति की व्यवस्था आदि विवादों का निपटारा मन-मुताबिक संसार की कुछेक राजधानियाँ ही कर रही थीं। किन्तु एशिया, अफ्रीका, लैटिन अमेरिका आदि की करोड़ों जनता अपनी समस्याओं और सवालों का हल स्वयं ढूँढ़ने तथा उन पर निर्णय लेने के अपने कर्त्तव्य और अधिकार को पाना चाहती थी। इसी परिप्रेक्ष्य में इन देशों के साथ अन्य विकासशील देशों का सबल मुक्ति-स्वर बनकर कभी पंडित नेहरू ने अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर घोषणा की थी कि "हम किसी दल में नहीं हैं और किसी

सैनिक गुटबन्दी में ही हैं। केवल उसी दल में हम रहना चाहेंगे जो है शान्ति का दल, जिसे अधिक से अधिक देशों को यथासंभव साथ लेना चाहिए।" इंदिरा गांधी ने भी नेहरू जी के पथ के पक्के दावेदार होकर गुटनिरपेक्ष आंदोलन को जीवन-शक्ति दी और इसे मानवता की मुक्ति ऐसे व्यापक संदर्भ से जोड़ा। इंदिरा जी ने गुटनिरपेक्ष आंदोलन को संबद्ध राष्ट्रों की व्यक्तिगत तथा सामूहिक सार्वभौमिकता, स्वतंत्रता तथा शान्ति के प्रति निष्ठा, और अपने देशवासियों को आजादी, गरिमा और शान्ति में जीने की बेहतर जिन्दगी तथा अवसर प्रदान करने की तात्कालिक जरूरत की अभिव्यक्ति माना। उन्होंने उक्त प्रसंग में और विश्व की समकालीन विकट परिस्थितियों का हवाला देते हुए गुटनिरपेक्ष आंदोलन को गैलेलियो के शब्दों को दुहराते हुए ऐसी विश्व-शक्ति कहा जो 'विरोधों के बावजूद भी आगे बढ़ती है' (एण्ड येट इट मूवज)।[1]

भारत की आजादी के बाद के पिछले चालीस वर्षों में देश के शौर्य और पराक्रम की ओजस्वी आभा इन्दिरा गांधी के रूप में प्रकट हुई। देश पर होने वाले विदेशी आक्रमणों के समय भारतवासियों ने खुले दिल से बहुत ही श्रद्धा और विश्वास के साथ उस आभा को अपना सौभाग्य समझकर स्वीकारा। यहाँ के लोकमानस ने तो श्रीमती गांधी के उस स्वरूप को भारतमाता की प्राणवंत मूर्ति ही मान ली। भारत के अपराजेय ओज और उदार शील को सही सम्मान देते हुए श्रीमती गांधी की अमर देन के रूप में विश्व के मानचित्र में उदित बंगला देश के प्रथम राष्ट्रपति मुजीबुर्रहमान ने उद्घोषित करते हुए सही कहा : "आमादेर सप्तकोटि मानुषेर मा श्रीमती गांधी"—हम सात करोड़ मनुष्यों की माँ श्रीमती गांधी (हैं)।

इन्दिरा गांधी की अपार क्षमता के अनेक पक्ष हैं और कई साक्ष्य हैं। इनमें से, उदाहरण के लिए, 1969 में होनेवाले राष्ट्रपति गिरि का चुनाव-अभियान, 1970 में लाल किले के मंच से गूँजा हुआ नारा 'गरीबी हटाओ,' संसद में पारित बैंकों का राष्ट्रीयकरण अधिनियम और अफ्रीका तथा एशिया की समन्वित शक्ति

---

1. "Twenty five years after the last holocast, the world is not yet on the brink of peace the nuclear balance of terror still confronts us. The war in Vietnam is said to be waged with 'Conventional' weapons, yet these conclude chemical contanvination of food and plant life. The only way to have a clean war is not to have a war at all. Hence India stands and works for total disarmament."

—Speech, Lusaka, I Sep. 1970.

को संचित कर संसार में मानवीय मूल्यों पर आधृत 'तीसरी ताकत' के रूप में गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों का उदय आदि सर्वथा उल्लेखनीय हैं। ये सभी, उस महान संतान, निष्ठावान राष्ट्रभक्त, अद्भुत दूरदर्शी, देशवासियों की सही अपेक्षा समझने वाली संवुद्धि और सबसे अधिक अखंड भारत के लिए प्राण ऐसी प्रिय वस्तु को भी समर्पित करने वाली अमूल्य राष्ट्र-निधि श्रीमती गांधी में समवेत तथा सनातन रूप से स्पन्दित हुए, जिसको जन्म के समय पिता के असीम प्यार ने 'प्रियदर्शिनी' कहकर पुकारा और माता ने हुलास में आकर 'इन्द्रा' नाम से अभिषिक्त किया।

निस्संदेह युगों-युगों तक इन्द्रा जी के महान व्यक्तित्व और रचनात्मक भूमिका की आत्मीय याद करते हुए भारतवर्ष के साथ संसार के भी करोड़ों लोग विख्यात गायिका लतामंगेशकर के करुण-कंठ से स्पन्दित इन स्वरों को अपनी भी स्वरांजलि देते हुए यह गा उठेंगे :

'तुझ माझी आशा, तुझ माझा विश्वास'

(तुम हमारी आशा हो, तुम हमारे विश्वास हो।) □

खंड : घ

संस्कृति

एक

चंपा : इतिहास-पुरुष की प्रतीक्षाप्रिया

भागलपुर ! यहाँ से तीन किलोमीटर दूर पश्चिम में चंपा नगर। मालिनी, चांदन, चंपा नाला और गंगा की धाराओं से अभिषिक्त यह चंपा नगर इतिहास की गोद में सुप्त पड़ा है। रामायण युग में इसने शिव के क्रोध से शापित कामदेव को शरीर त्याग करते देखा। ऋग्वेद ने तो नहीं, अथर्ववेद ने अंग और चंपा का व्यंग्यात्मक भाव से उल्लेख किया, क्योंकि यहाँ की प्रजा 'सनातनी वैदिक आर्य' नहीं बन पायी। मगर 'चंपा' को यह भी याद है कि बाली की राजमहिषी की कोख से तो नहीं, हाँ, राजऋषि की कृपा से प्राप्त पाँच पुत्रों, अंग, बंग, पुंड्र, सुह्म और कलिंग में से सर्वश्रेष्ठ अंग के राज्य की राजधानी रहने का इसे सौभाग्य मिला, महाभारत ने भी इसका उल्लेख किया।

पूर्वांचल के अनेक राज्यों और राजाओं के पराक्रम और पौरुष से चमत्कृत अंग सबसे आगे रहा। रामायण युग में लोमपाद ने और महाभारत के दानवीर कर्ण ने इतिहास में इसका नाम अमर कर दिया। चंपा को (आज का चंपा नगर) इन विशिष्ट राजाओं की राजधानी रहने का सौभाग्य मिला।

बुद्धकालीन युग। सोलह महाजन पदों में एक प्रमुख जनपद अंग। अंग के 'राजगृह' के कीर्ति प्रसार से ऐसा भी लगता है कि अंग का मगध पर आधिपत्य रहा। मगध के साथ-साथ काशी से भी उसका निकटस्थ सम्बन्ध रहा। लेकिन, ज्यों ही बिंबसार की साम्राज्य-लिप्सा से प्रेरित चतुरंगिणी ने विजय अभियान प्रारम्भ किया, अंग उसका पहला शिकार बना। इस विजय से मगध को अपने समय का सर्वशक्तिमान साम्राज्य बनने में सबसे बड़ी सहायता मिली। ईसा पूर्व छठी शताब्दी में अंग से प्रारम्भ होकर ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में अशोक द्वारा कलिंग विजय तक मगध साम्राज्य का महान अभियान था। पश्चिम में हिन्दूकुश पर्वत तक। भारत में राजनीतिक एकीकरण का स्वप्न पूर्ण हुआ। पाटलिपुत्र राजधानी बनी। अंग और चंपा का अपना अस्तित्व समाप्त। यद्यपि उसके बाद के शिलालेखों और साहित्य में अंग और चंपा का उल्लेख है, मगर यह सिर्फ प्राचीन गौरव की प्रति-ध्वनि मात्र है। वास्तव में यह मगध साम्राज्य का एक अंग मात्र बनकर रह गया था, चाहे वह कितना भी उन्नत और उत्सवपूर्ण क्यों न हो।

आज वही चंपा (भागलपुर का चंपा नगर) व्यथित है—इतिहासकारों, राजनीतिज्ञों, साहित्यकारोंकी नजर से उपेक्षित। उसे स्वप्न आता है कि किंवदंती के अनुसार उसकी स्थापना शक्तिशाली राजा लोमपाद के पौत्र चंपा ने की थी। और तभी, उन हजारों-लाखों 'चंपक' पुष्पों के सौरभ से उसका मन-प्राण भर जाता है जो उसके नव-बागान और वीथियों में पुष्पित और सुगंधित रहते थे। उसे यह भी याद आता है कि शायद उसे तब 'मालिनी' नाम से भी पुकारा जाता था।

जो भी हो उसके स्वप्न की सच्चाई, वह इस बात से आश्वस्त है कि बौद्ध साहित्य में चंपा के वैभव, विलास और विशिष्टताओं का उल्लेख है। उल्लेख है, इत्र-विक्रेताओं, सुगंधित मालाओं के निर्माताओं, लकड़ी नक्काशी के सृजनहारों, स्वर्णकारों, आभूषण विक्रेताओं, चमड़े के शोधकर्ताओं, मिर्च-मसाले के व्यापारियों एवं बुनकर संघों का, जिनके कारण चंपा के व्यापार और कारीगरी की प्रशंसा देश-विदेश तक फैली हुई थी। चंपा के उद्यमी और महत्वाकांक्षी वणिक पुत्रों ने नदी की धार में घर बसाया। उसे ही सड़क मान गंगा और इसकी सहायक नदियों के सहारे दक्षिण-पूर्व एशिया की यात्रा को अनजाने प्रांतर को मूल-गोत्र दिया और उसके प्रेमपाश से बिंधकर वहीं बस गये। आधुनिक हिंद-चीन के एक भाग को अभी तक प्राचीन चंपा कहा जाता रहा है।

व्यापार की बात अलग। चंपा विभिन्न धार्मिक संप्रदायों का भी केन्द्र रहा। बुद्ध ने अपनी कई यात्राओं में इसे पवित्र किया। यहीं पर उन्होंने अपने भिक्षुओं के नंगे पाँवों को चप्पल से ढकने की आज्ञा दी। जैन धर्मावलंबियों का तो यह पावन धर्म-स्थान है, क्योंकि तीर्थंकर वासुपूज्य ने यहीं जन्म लिया। प्रातःस्मरणीय

राजपुत्र सर्वत्यागी 'महावीर' ने तीन बरसातें यहाँ बितायीं। और भी कई संप्रदायों के संस्थापक एवं प्रचारक इस शहर को अपने उपदेशों से गौरवान्वित करते रहे। किले की चारदीवारी से घिरा चंपा, अनेक महाशालाओं (कॉलेजों) का संरक्षक भी रहा।

अतीत के गौरवशाली राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक महत्त्व से परिपूर्ण वही चंपा नगरी आज उपेक्षित पड़ी है—उस युग पुरुष-साहित्यकार या इतिहास-कर की प्रतीक्षा में, जो उसके इतिहास पर छायी धुंध, इसके अस्तित्व पर निर्मित ढूह (टीले) को हटाकर इसकी प्रतिष्ठा को जगजाहिर कर दे।

खोजबीन के अधूरे प्रयास

कुछ ने प्रयास किया, मगर भटक गये। एन० एल० दे चंपा की खोज में वर्दवान चले गये। कोई पूर्णिमा जिला स्थिति चंपा नगर में भटक गया, तो किसी ने सुलतानगंज (चंपानगर से 19-20 कि० मी० पश्चिम) के कर्णगढ़ को यह सौभाग्य दिया। प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेन सांग सातवीं सदी के पूर्वार्द्ध में भारत आया। उसके विवरण के अनुसार कहलगाँव के पथरघट्टा पर्वत पर अवस्थित मंदिर से 38 कि० मी० दूर स्थित चंपा नगर ही वास्तविक विस्मृत चंपा है। प्राचीन इतिहास के सूत्रों ने भी गंगा-मालिनी, गंगा-चांदन और गंगा-चंपा के संगम को ही चंपा का वास्तविक स्थान माना है। आज भी चांदन चंपा नगर के पास गंगा में मिलती है। चंपा नाला आज भी यहीं पश्चिम से पूरब को बहता है। इसी चंपा के प्रसिद्ध बिहुलाघाट से इतिहासप्रसिद्ध चांद सौदागर की सती बिहुला अपने पति का मृत शरीर लेकर 'देवी मनसा' से पति के प्राण वापस माँगने, अकेली निकली थी। हर वर्ष सती बिहुला की याद में बिहुला काव्य का वाचन, पूजा और मेले का व्यापक आयोजन, सती के साथ चंपा की प्राचीन प्रसिद्धि को भी उजागर करता है। काल के दंश को सहकर भी चंपा नगर ने चंपा की याद को बनाये रखा है।

चारों तरफ गहरे नाले से घिरा चंपा नगर का विशाल ढूह मौन साक्षी है इतिहासप्रसिद्ध चंपा नगरी का। हर वर्ष विश्वविद्यालयों के विद्यार्थी—कुछ शौकिया तौर पर और कुछ महज विषय सम्बन्धी कार्रवाई के निर्वाह हेतु आते हैं, इसके पूर्व इतिहास का पता लगाने। अब तक यही पता चला है कि चंपा के चारों तरफ मिट्टी-कीचड़ की किलेनुमा दीवार थी, जिसे बाद में पक्की ईंट में परिवर्तित किया गया था। पानी की टंकी मिली है। पत्थर के गोलों से सज्जित एक शस्त्रागार मिला है, जो एक गलियारे से होकर किले के एक फाटक तक जाता है। पत्थर के सुन्दर तीर मिले हैं। एक अभूतपूर्व टेराकोटा प्लेट के सिर्फ ऊपरी भाग पर माँ दुर्गा की मूर्ति अंकित है, जिसके विभिन्न हाथों में विभिन्न प्रकार के

आयुध हैं।

मगर इन संकेतों के बावजूद चंपा उपेक्षित है। इस अनुसंधान से देश के इस भाग में उज्जैन के समान छठी शताब्दी ईसा पूर्व के एक प्रसिद्ध नगर के उत्थान और विकास का पता चलेगा, जो संभवतः 'अंग' के विशिष्ट इतिहास पर प्रकाश डाल सके। चंपा की बहुमुखी प्रगति की खोज, इसके राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक चरणों की खोज संभवतः पूर्वी बिहार के एक अछूते इतिहास-पृष्ठ को उजागर करे।

अनेक सेनापतियों के अभियान का साक्षी, अनेक धर्मोपदेशकों का मूक श्रोता, अनेक शिल्पियों एवं कारीगरों की सृजनात्मक कला से चमत्कृत, वन-वीथियों में बहती विलास धाराओं से सिंचित और सभी के संरक्षक श्रेष्ठ साम्राज्यों तथा सम्राटों के आलिंगन से पुलकित चंपा किसी इतिहास-पुरुष की प्रतीक्षा में है। कौन जाने कब यह आशा पूर्ण हो ? होगी भी क्या ? □

दो

अंडमान निकोबार
काले पानी पर नया उजाला

बंगाल-खाड़ी की उत्ताल तरंगों पर 'औंगी' नाच रहा था। नीला आकाश उठती लहरों में हर क्षण टुकड़े-टुकड़े नया रूप ले रहा था। गुरुतर उत्तरदायित्व के भार से प्रसन्न, किन्तु कुछ शंकित 'औंगी' वरुण देवता की पूजा के लिए कभी दायें-बायें, कभी आगे-पीछे झुकता आगे बढ़ रहा था। भारतीय संसद के लोक-लेखा समिति के सदस्यों को अंडमान-निकोबार का परिभ्रमण कराने का गौरव जो उसे प्राप्त हो रहा था।

'औंगी' को याद हो आये 1969 एवं 1970 के अप्रैल और मई के वे दिन, जब वह इन्हीं लहरों पर भारत के सुदूर-पूर्व पंजाब के भूतपूर्व बहादुर फौजी भाइयों के 69 एवं 31 परिवारों को लेकर अपने देश की दक्षिणतम भूमि ग्रेट निकोबार में बसाने आया था। स्मृति ताजी हुई कि सामने 'कैंपवेल वे' का नव-निर्मित जेटी चमक उठा। जेटी पर भारत के बहादुर बेटे और उनके परिवार के सदस्य हाथों में जंगली फूलों की माला लिये खड़े थे—वे बहादुर जवान, जिन्होंने पंजाब की उर्वरा, शस्यश्यामला भूमि को भरी आँखों से विदा

देकर ग्रेट निकोबार की एक लाख, वीस हजार हैक्टेयर घने जंगलों से भरी भूमि को अपनाया था। इनके साथ ही घुले-मिले खड़े थे पुनर्वास रिक्लेमेशन संस्थान के वे अधिकारी, जिन्होंने जंगलों को साफ कर उनके बसने और उपजाने के लायक 12-12 एकड़ जमीन की व्यवस्था की थी और ये लोग अभी भी उतावले थे, 'यांत्रिक योजना' के उन एक हजार परिवारों के स्वागत में, जो निकट भविष्य में इस द्वीप पर आनेवाले थे।

31 लाख 50 हजार की लागत से निर्मित हो रहा जेटी 'औंगी' को चूमने को व्याकुल हो उठा, पर दोनों के बीच बड़े-बड़े रवड़ के टायर 'कवाव में हड्डी' बन गये। यह साजिश उन अभियंताओं की थी, जो समुद्रतल से उभरी नवोढ़ा को प्रथम मिलन के किसी आकस्मिक आतुर आलिंगन से बसाना चाहते थे।

कलकत्ता एवं मद्रास से क्रमशः 1705 और 1240 किलोमीटर दूर ग्रेट निकोबार द्वीप विषुवत रेखा से सिर्फ छह डिग्री उत्तर पर अवस्थित है। कन्या-कुमारी से भी नीचे 'पिगमेलियन प्वाइंट' पर खड़ा प्रकाश-स्तंभ भारत का सुदूर दक्षिणी प्रहरी है—सुमात्रा द्वीप से सिर्फ 140 किलोमीटर उत्तर।

6,340 वर्ग किलोमीटर क्षेत्रफल में फैली ऊंची-नीची पहाड़ियों और संकरी घाटियों से सुशोभित ग्रेट निकोवार के 61 द्वीपसमूह प्रतीक्षा में हैं, उन उद्यमी भरतपुत्रों के, जो इनके ऊबड़-खाबड़ कलेवर को परिश्रम की खराद पर तराश कर सुन्दर स्वरूप दें।

लेकिन अभी भी यह अपने दामन में उन आदि पुत्रों को सँजोये है, जो नंग-धड़ंग रहते हैं, सिवाय एक लंगोटी के कुछ नहीं। घर के नाम पर झोंपड़ी, खाने को सुअर का शिकार। बड़े परहेजी। हाथ मिलाना तो क्या, आँख मिलाने में भी संकोची। 'जारवा' के ठीक विपरीत। परदेशी को सभी सौंप जंगल जाने को सदैव तत्पर। 1971 की जनगणना के आधार पर इन आदिवासी शोंपियनों की संख्या सिर्फ 92 है।

सामूहिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ग्रेट निकोवार को चाहिए साज-सामान, वह सामरिक धुन जो किसी आक्रामक के सातवें या सत्तरहवें वेड़े को किसी गुस्ताखी पर उतरने के पूर्व सावधान कर दे।

संसद सदस्यों के साथ 'औंगी' घूमता रहा, समुद्र की लहरों पर पूरे आठ दिन। रात समुद्र में और दिन विभिन्न द्वीपों में। अंडमान निकोबार के 258 द्वीपसमूहों के विभिन्न आदिवासियों के वीच, मुख्यभूमि से आये अनेक श्रमिकों एवं सरकारी अधिकारियों के साथ।

कटचल द्वीप-रानी सांगा की जन्मभूमि जो हर दवाव के बावजूद अपने इष्ट-देव हर-हर महादेव को भजती और पूजती रहीं। मुख्यभूमि से अगाध प्रेम। हर आनेवाले को गले लगातीं। उनकी यादों में अब खड़ा है उनका बनवाया हुआ शिव

मंदिर एवं उनके वंशज कैप्टेन हरि सिंह।

कमोरटा द्वीप—18 अगस्त 1945 को जापानियों ने यहाँ आत्मसमर्पण किया था। जापानी हवाईजहाज के ध्वंसावशेष। बीयर की लाखों बोतलों से सड़कों के निर्मित किनारे, छह डिग्री में 12 डिग्री उत्तर पर स्थित इस द्वीप में काली मिर्च, कोको, कॉफी, चीकू, आम, अमरूद एवं मसालों की संभावनाएँ हैं। कितनी—यह विशेषज्ञ बतायें। 30 प्रकार के याम, कच्चू-कन्ना की तरह कंद-मूल उपलब्ध हैं यहाँ।

इसी द्वीप के नजदीक चैम्पियन द्वीप में रानी लक्ष्मी का निवास है। रंगरूप और नख-शिख में बीते दिनों की प्रतिध्वनि। बीते शौर्य और सौंदर्य के भूले-बिसरे चित्र। रानी लक्ष्मी अभी भी अपने देशवासियों का हृदय खोल कर स्वागत करती हैं और समुद्र द्वारा स्वनिर्मित मूंगों के विभिन्न उपहार देती हैं। द्वीप पर विद्यालय हिन्दी माध्यम के हैं और इनमें बलिया और दरभंगा के सर्वश्री सिंह, यादव और झा अध्यापक हैं। गरीबी के प्रतीक मकान लकड़ी के खम्भों पर बने हुए हैं।

कार निकोबार कैप्टेन रिचर्डसन, भूतपूर्व संसद सदस्य का गृह द्वीप है, जहां कुछ ईसाई धर्मावलम्बी हैं। यहाँ अन्य द्वीपों की अपेक्षा खुशहाली दिखाई देती है। चारों तरफ कतार में खड़े नारियल के पेड़ हैं। इनके सुन्दर, बड़े और स्वादिष्ट फल, सत्कार और आय का मुख्य साधन हैं। निकोबार ट्रेडिंग कम्पनी इनका व्यापार कर मालोमाल हो गयी, पर ये निवासी वहीं-के-वहीं हैं। सरकार की इच्छा और कानून अदालत की फाइलों में कैद है।

छोटा अंडमान में विकास की संभावनाएँ बहुत हैं, बसने और उपजाने लायक जमीन भी बहुत अधिक उपलब्ध है। कीमती जंगल, ट्राम की लाइनें, नये विशाल ब्रेक-वॉटर का निर्माण जोरों पर है। पूर्व पाकिस्तान से आये शरणार्थियों के लगभग 123 परिवार यहाँ बसे हुए हैं।

यहाँ के आदिवासी, जिन्हें औंगी कहते हैं, बहुत ही सीधे-साधे हैं। वस्त्र के नाम पर जंगली पत्तों की बनी लंगोटी ही इनकी पोशाक है। इनकी संख्या लगभग 130 है। इनकी उपजातियाँ हैं : आपी, अमैया और क्यूलँग। इनका अधिकतर समय बागवानी, नारियल उपजाने और सूअर का शिकार करने में बीतता है। ये लोग तम्बाकू और सिगरेट पीने के शौकीन होते हैं। भोजन कभी खाते हैं कभी नहीं। इनके बच्चे जिस घर में भी चले जायें, इनके भोजन का इंतजाम वहीं पर। झोंपड़ी तो बनाते हैं, पर एक जगह टिकने के अभ्यस्त नहीं हैं। एक रास्ते पर दोबारा नहीं चलते हैं। इनके यहाँ खोपड़ी मुड़ाने की निराली प्रथा है। किसी भी शीशे का टुकड़ा इसके लिए उपयुक्त उस्तरा। शहद उतारने और खाने के बड़े शौकीन, औंगी आदिवासी इस अवसर पर विशेष गीत गाते हैं।

पोर्ट ब्लेयर अंडमान-निकोबार द्वीप समूह की राजधानी है। स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास की एक अविस्मरणीय पुण्य-स्थली। यहाँ की प्रसिद्ध सेल्यूलर जेल—698 कोठरियाँ, वीर सावरकर, क्रान्तिकारी बटुकेश्वर दत्त, शंभूनाथ आजाद, योगेन्द्र शुक्ल, अहमदुल्ला एवं विभिन्न प्रान्तों से निर्वासित आजादी के अनेक दीवाने इन्हीं कोठरियों को वंदेमातरम् के जय-गान से उद्घोषित करते रहे। जेल के सामने की बड़ी बैरक या यों कहें कि यंत्रणा देनेवाला कालकुण्ड आज भी मूक गवाह है कि जिन वीरों ने अपने प्राण न्योछावर किये, उनके मुँह से आह भी नहीं निकली। बगल का फांसीघर याद दिलाता है—न केवल इस शताब्दी की कुर्बानियों की, बल्कि 1858 के उन वीरों की जिन्होंने स्वतंत्रता संग्राम में प्रथम आहुति दी थी। बिहार, उत्तरप्रदेश और पंजाब के निर्वासित राजनीतिक एवं गैरराजनीतिक क्रान्तिकारी तथा अन्य दूसरे बन्दी इस जेल में भेजे जाते रहे हैं। अंडमान को इस सेल्यूलर जेल ने काले पानी की संज्ञा दिलायी। मगर आज का इतिहास क्या कहता है?—अंडमान हमारा गौरव या काला पानी?

काला पानी बदल चुका है। उन्नति और प्रगति के नये रूप ने इसके रंग में नया निखार ला दिया है। वर्षों से अंडमान के जंगलों में चुपचाप, मौन खड़े गर्जन, सफेद चुगलम बादाम एवं काले चुगलम के विशालकाय वृक्ष धराशायी हो चुके हैं। हँसी-खुशी उन्होंने अपना उत्तराधिकार नयी सन्तानों को सौंप दिया है, जो उनके बलिदान पर गौरवान्वित है, मुस्करा रहे हैं। साथ ही इन्होंने भारत की मुख्य भूमि से आये 'टीक' को भी अपने परिवार में मिला लिया है और ये बड़ी रफ्तार से सम्पूर्ण अंडमान के कुल भू-भाग के 73 प्रतिशत जंगलों को अधिकाधिक उपयोगी बना रहे हैं। शान्तिपूर्वक उत्तरदायित्व के हस्तांतरण का यह विशाल दौर सम्पूर्ण द्वीप समूह में लोमहर्षक है। काश! इस ज्वलन्त उदाहरण का आज के डगमगाते, थरथराते कदम वाले सत्ताधारी अनुकरण कर पाते। इतिहास कहे, अंडमान सोने की खान है कि काला पानी?

मगर अंडमान के जंगलों को, खेत-खलिहानों को, ग्राम-घाटों को सजने-सजाने का सरकारी प्रयत्न कितना अधूरा और अपर्याप्त है? प्रथम योजना में खर्च कुल राशि है 85, 572 लाख रु० प्रावधान था। 558.050 लाख रु० दूसरी योजना में 50 प्रतिशत से कुछ अधिक खर्च की गयी: राशि 603.135 लाख रु० में से व्यय कुल 364.87 लाख रु० तीसरी योजना में अनुभव ने सिखाया, तो खर्च 636.202 लाख रु० फिर भी 154.118 लाख की राशि खर्च ही नहीं हो पायी। चौथी योजना में लगभग 1400 लाख रु० का प्रावधान है। किन्तु लोक-लेखा समति के सदस्य आश्चर्यचकित रह गये, क्योंकि खर्च की हुई राशि को देख कर ऐसा लगा कि अंडमान प्रशासन ने या तो अनुभव से सीखा नहीं या सीखना चाहा नहीं। मुख्य आयुक्त की सलाहकारी परिषद् के सम्बन्ध में जितना भी कहा

जाये थोड़ा।

एक तरफ प्रकृति प्रदत्त सम्पत्ति—थल पर जंगल, जल में मछली। एक तरफ विस्तार की विशाल संभावनाएँ हैं और दूसरी तरफ जरूरत से मिली कम राशि का एक अंश लौटाया जा रहा है।

यातायात की आवश्यकता सर्वोपरि है। उत्तर अंडमान के 'चिरैया टापू' से दक्षिण अंडमान के 'एरियल वे' को जोड़नेवाली अंडमान ट्रंक रोड का प्रारम्भ द्वितीय योजना में हुआ था जिसकी लम्बाई 330 किलीमीटर है। अब तक 170 किलोमीटर ही वन पायी है। चौथी योजना तक 250 किलोमीटर ही पूर्ण होने की संभावना है। पांचवीं योजना तक कार्य के पूर्ण होने की संभावना है। कौन जाने? माना कि यहाँ 300 सेन्टीमीटर वर्षा होती है। काम करने के कुल सात ही महीने हैं और सड़क के कुछ भागों को उस क्षेत्र से गुजरना पड़ता है जहाँ आदिवासी 'जारवा' रहते हैं। 'जारवा', जिनकी संख्या का पता नहीं है, घने जंगलों में रहते हैं। अपने क्षेत्र में आते हुए किसी भी अजनबी को देखते ही मोटे चगुलम की धड़ पर नगाड़ा मार कर अपने साथियों को सावधान कर देते हैं। और आगंतुक की छाती के बायीं ओर विष बुझे तीर मारते हैं। ये अब तक सभ्यता के सम्पर्क में न तो आये हैं और न ही लाये जा सके हैं। मुख्यतः मछली का शिकार करते हैं। कभी-कभी कैंपों पर लोहे के लिए हमला कर देते हैं 'औंगी', 'आंडमनी', 'शोंपियन'—के बिलकुल विपरीत ये लोग बहुत ही आक्रामक स्वभाव के हैं। नंगे रहते हैं, पर अपने को बचाने के लिए छाती पर लोहे का पट्टा बाँधते हैं।

जब तक यातायात के साधनों का समुचित विकास नहीं होता है, तब तक इन जंगलों के वृक्षों एवं आदिवासियों का विकास संभव ही नहीं है। अंडमान ट्रंक रोड, नये बंदरगाह, नयी जेटियाँ और नये डैक—इनके अधूरे निर्माण के प्रश्न मुँह बाये खड़े हैं। उत्तर माँगते हैं। समाधान खोजते हैं।

वर्षों पूर्व उत्तरप्रदेश, बिहार और केरल से आये प्रवासी, हाल में आये शरणार्थी, कारावासियों एवं चौकीदारों के उत्तराधिकारियों ने इन द्वीप-समूहों में नया आदर्श स्थापित किया है—भावनात्मक एकता का। नाते-रिश्तेदारों से सम्बन्ध छोड़, मूल परिवार को भूल, जन्मस्थान से नाता तोड़, विभिन्न धर्म, भाषा एवं जाति के इन पुत्रों ने इन उजाड़ द्वीपों को बसाया है। भाषा के बंधन को तोड़ हिन्दी-हिन्दुस्तानी को अपनाया है। जाति एवं धर्म की परिधि को तोड़ विवाह के नये प्रतिमान स्थापित किये हैं। प्रादेशिक पूर्वाग्रह को छोड़ा है और छोटे पैमाने पर भारत भूमि की विविधता में एकरूपता की प्रतिष्ठा की है। कहे इतिहासकार, अण्डमान हमारा आदर्श है या काला पानी?

मुख्यभूमि के कोलाहल से दूर गगनभेदी जेट, पृथ्वीभेदी ट्रेक्टर की आवाजों से अभी भी बहुत कुछ अपरिचित, समुद्र के किनारे, नारियल कुंज में, लहरों की थपकियों में ऐसा लगता है, मानो शान्ति सो रही है।

किन्तु इस सामाजिक संस्कृति एवं सामंजस्य की सतह पर कुछ अस्पष्ट लहरियाँ उठ रही हैं; सावधान ! □

तीन

विक्रमशिला : अन्तःसाधना के गहरे संदर्भ

जब कभी मैं अपनी प्राक् ऐतिहासिक जन्मभूमि अंग की सृजनात्मक विरासित की याद करता हूँ, तब मेरी आँखों में महाभारत के दानवीर कौन्तेय के अपूर्व पराक्रम की छवियों के साथ मध्यकालीन विक्रमशिला विश्वविद्यालय की सिद्ध-स्थली के साधना-दीपों की चित्र-विचित्र द्राभाएं बिम्बित हो उठती हैं। आवेश के ऐसे क्षणों में मैं एक सहज आत्म-संवाद में मग्न हो जाता हूँ। और मैं विक्रमशिला की गहरी याद में डूब कर उससे ही पूछता हूँ—ओ विक्रमशिला ! तुम्हारे महा-भावों, अशेष यशगाथाओं और तुम्हारे भूले-बिसरे गौरवगानों को मैं अपने भावों की झोली मैं कैसे भरूं ? तुम यह भी बताओ कि भारतीय तत्त्वचिंतन की परम्परा में तुम्हारे अवदान की सही पहचान को कहाँ सजाऊँ ?

साक्ष्यों के पता चलता है कि यह विक्रमशिला भारतीय तत्त्व-चिंतन की अद्‌भुत सिद्ध-भूमि है। यह प्राचीन विश्वविद्यालय भागलपुर जिला के करलगांव थाना अंतर्गत बटेश्वर स्थान, अन्तीचक, पत्थरघट्टा आदि गंगा तटवर्ती ग्रामीण क्षेत्रों में स्थित दूर-

दूर तक फैले ऊँचे-नीचे टीलों के विशाल उदर में शताब्दियों तक समाया रहा। नालंदा तथा तक्षशिला की तरह यह विश्वविद्यालय भी अपने स्थल, निर्माता समय आदि के साथ अपनी विरल गरिमा को लेकर विश्वसनीय प्रमाणों के अभाव में प्रश्नवाचक चिह्न बनने के अभिशाप को ढोता रहा। विनयतोष भट्टाचार्या, कनिंघम, राहुल सांकृत्यायन, डी० सी० सरकार आदि दिग्गज विद्वानों ने इस प्राचीन विश्वविद्यालय की खोज-खबर तो ली, किंतु इनके अध्ययनों में भी विक्रमशिला अपने खोये हुए वैभव को पूरी तरह नहीं पा सका। लेकिन अब विक्रमशिला को लेकर उठ खड़े हुए विवाद, शंकाएँ, पूर्वग्रह आदि लगभग समाप्त हो गए हैं। विश्वविद्यालय और इसके स्थल के सम्बन्ध में अनिश्चितता के बादल करीब-करीब छँट गए हैं। बौद्ध धर्मदर्शन की महायान से लेकर सहजयान शाखाओं तक की सुदूर यात्रा का साक्षी यह प्राचीन विश्वविद्यालय हाल में की जाने वाली खुदाइयों से प्रामाणिक हो उठा है। खुदाई क्रम में अब तक प्राप्त इसके विशाल प्रांगण, गर्भ-गृह, केन्द्रीय विज्ञान-भवन, 15 मीटर ऊँचे चैत्य पर स्थापित भव्य बुद्ध-मूर्ति आदि के अतिरिक्त कांस्य, प्रस्तर, पक्की मिट्टी से बनी हजारों मनोरम मूर्तियाँ तथा आभिप्रायिक मुद्राएँ अपनी विश्वसनीयता को उदाहृत करती हैं। जो मूर्तियाँ बौद्ध संस्कृति के साथ हिन्दू संस्कृति की समृद्धि को प्रतीकित करती हैं, उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं : बौद्ध धर्म-दर्शन संबंधी लोकेश्वर, मैत्रेयि, मंजुश्री, मारीच, महाकला, तारा, सदाक्षरी, अवलोकितेश्वर, जनमल आदि; हिन्दू-धर्म-दर्शन—विष्णु, उमा-महेश्वरी, सूर्य, महिषासुर मर्दिनी, चामुण्डा, कौमारी, वैष्णवी, मनसा, शेषशायी, अग्नि, यम, कुबेर, गणेश, पार्वती कामदेव, सप्तमातृका, नरसिंह आदि।

विक्रमशिला को भारत ही नहीं विश्व की ज्योति-भूमि होने का गौरव प्राप्त है। इसके महान दार्शनिकों और धर्म गुरुओं से दीक्षा पाने की उत्कट लालसा लिये दुर्लंध्य हिमालय की गिरिश्रृंखला को पार कर अनेक बार नेपाल, तिब्बत, भूटान आदि के साथ मध्य एशिया और दक्षिण पूर्व एशिया के भिक्षु-विद्यार्थी, राजपुरुष आदि के अनेक दल बहुमूल्य आभूषणों, स्वर्ण खंडों से सुसज्जित अश्वों पर बर्फीले तूफान और वन्य-प्राणियों को अमान्य करते हुए सज-धज कर निकले। ये कारवाँ आभूषणों तथा स्वर्ण खंडों से सज्जित भारवाहक घोड़ों पर निकलते थे। कई बार तो ये बर्फीले तूफान और हिंसक पशुओं के शिकार बन गए। इनमें से कुछ ही दल दुस्साहसपूर्ण प्रयत्नों के बाद विक्रमशिला तक पहुँच पाए। इन विदेशी दलों को प्रेरित करने में तिब्बत के विख्यात धर्म-प्रेमी राजा येह-शिख-होद का नाम अविस्मरणीय है। इसने विक्रमशिला के कुलपति दीपंकर श्रीज्ञान अतिशा को तिब्बत की भूमि में बोध धर्म-दर्शन के प्रामाणिक व्याख्या और उपदेश देने के लिए आमंत्रित करने में भगीरथ प्रयत्न किए। एक तिब्बती राजा येशिस होद तो नेपाल

के राजा द्वारा उस समय पकड़ा गया जब वह दीपंकर को बुलाने के लिए धन-संचय के सिलसिले में पश्चिमी राज्यों पर आक्रमण के लिए गया था। इस राजा की मौत नेपाल के कारागार में ही हो गयी। बाद में तिब्बती धर्म-यात्री जयशील (भारतीय नाम) और कुछेक अन्य तिब्बती विक्रमशिला तक पहुँच पाए। अनेक संकटों को झेलकर दीपंकर को तिब्बत जाने के लिए ये राजी कर सके। तिब्बती मठों में प्राप्त ग्रंथों से पता चलता है कि जब आचार्य दीपंकर तिब्बत पहुँचे तो तत्कालीन तिब्बती राजा और जनता ने अपार उत्साह तथा ऐश्वर्य के साथ इस विख्यात पंडित का अभिनन्दन किया।

सुप्रसिद्ध तिब्बती इतिहासकार तारानाथ के विवरणों के अनुसार मध्यकाल के पालवंशी महाप्रतापी धर्मप्रिय सम्राट् धर्मपाल ने विक्रमशिला विश्वविद्यालय का निर्माण कराया। विक्रमशिला के पार्श्ववर्ती अवशेषों की खुदाई से प्राप्त एक शिलालेख के अनुसार उस समय विक्रमशिला का स्थानीय राजा मणिकेश था, जो गौड़ राजा (धर्मपाल) के आश्रय में शासन करता था। तारानाथ द्वारा दिए सूत्रों के अतिरिक्त अद्यतन खोजों के अनुसार विक्रमशिला विश्वविद्यालय चहारदिवारी से घिरे विशाल प्रांगण में स्थित था। विश्वविद्यालय के विशाल परिसर के बीच में एक केन्द्रीय कक्ष था जो विज्ञान-भवन के नाम से विख्यात था। भीतर के परिसर में छः स्थानों पर विविध दिशाओं की ओर खुलने वाले छः द्वार थे। ये प्रवेश द्वार छः महाविद्यालयों के प्रांगण की ओर खुलते थे। प्रत्येक महाविद्यालय में 108 आचार्य नियुक्त थे। महाविद्यालयों के बीच में लगभग 8000 लोगों के एकत्र होने के लिए खुले मैदान का प्रावधान था। विश्वविद्यालय के प्रत्येक द्वार पर बौद्ध धर्म-दर्शन, व्याकरण, ज्योतिष आदि अनुशासनों के प्रकांड पंडित प्रतिष्ठित थे। नये सत्र में देश तथा विदेश से नामांकन के लिए आये नये छात्रों की प्रवेश परीक्षा ये पंडित लेते थे। तारानाथ के अनुसार आचार्य प्रज्ञा-पारमिता दक्षिणी, रत्नाकर शांति पूर्वी और वागेश्वर कीर्ति द्वितीय केन्द्रीय पर आसीन थे। विश्व-विद्यालय में समय-समय पर दीक्षांत समारोहों का आयोजन होता था। पाल-वंशी सम्राटों द्वारा ही दीक्षांत समारोह में उपाधियाँ वितरित की जाती थीं। राजा महिपाल ने जेतारि और रत्नवज्र जैसे विख्यात विद्वानों को उपाधि से विभूषित किया था। इस विश्वविद्यालय की दीवारों : चैत्यों, साधना-स्थलों आदि में देव-देवियों की मूर्तियाँ तथा गुरुओं के चित्र यथास्थान सज्जित थे। विश्वविद्यालय के मुख्य द्वार के दाहिने महान बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन और बायें कुलपति आचार्य श्री दीपंकर के चित्र उकेरे हुए थे। इस विश्वविद्यालय की व्यवस्था दो प्रधान परिषदों द्वारा नियंत्रित होती थी। आचार्य और विद्यार्थी बौद्ध धर्म में स्थापित नियम तथा आचार-विचार का पालन करते थे। कोई विद्यार्थी अशोभन अथवा प्रतिकूल व्यवहार करता था तो वह दंड का भागी बनता था। उसे किसी

उपाध्याय की स्वीकृति से ही भिक्षु द्वारा क्षमादान मिल सकता था। विश्वविद्यालय के सर्वोपरि प्रबंधक आचार्य रत्नाकर थे। तिब्बती स्रोतों के आधार पर पता चलता है कि वज्रयान शाखा के सुप्रसिद्ध चिन्तक अभयाकर और तंत्रशास्त्र के सिद्धाचार्य बुद्ध श्री, भवभद्र, लीलावज्र और कमलरक्षित भी विक्रमशिला की ही उल्लेखनीय प्रतिभा थे।

आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान विक्रमशिला के कीर्ति-स्तंभ माने जाते हैं। यह संयोग ही है कि ऐसी विश्वविश्रुत दार्शनिक प्रतिभा की शिक्षा-भूमि विक्रमशिला ही था। राहुल जी के अनुसार भागलपुर के बिल्कुल पास में स्थित सबौर दीपंकर की जन्म-भूमि था। ल्हासा के एक बिहार में प्राप्त पोथी के अनुसार आधुनिक सबौर प्राचीन 'सहोर' का विकसित रूप है। इसी प्रकार भागलपुर, भोटिया 'भंगलपुर' है। विक्रमशिला की चर्चा के प्रसंग में राहुल जी ने भोटिया भाषा में उल्लिखित इस अंश को उद्धृत किया है : 'संस्कृत भाषा में दीपंकर श्रीज्ञान भोट की भाषा में द्पल्-मर्-मे-म्जद्-ये-शेस्। अन्य नाम जो-वो (भट्टारक) तथा अतिशा है। जन्म देश है (1) भारत की पूर्व दिशा सहोर। वहाँ भंगल नाम का बड़ा पुर है। जिसके अन्दर राजप्रासाद कांचन ध्वज था। पिता थे राजा कल्याणश्री। माता थी प्रभावती। दोनों को एक पुत्र जलपुरुष अश्ववर्ष मन्मथ संवत्सर 1039 विक्रमाब्द, 982 सन् में हुआ। उस प्रासाद के नातिदूर विकमलपुरि (विक्रमशिला) नामक बिहार है। पाँच सौ रथों को ले परिवरित राजा उस बिहार में गये। (पुरातत्त्व-निबंधावली, प्रयाग 1937, पृ० 270)।

आचार्य दीपंकर की अधिकांश कृतियों का तिब्बती अनुवाद प्राप्त है। इनमें 'चर्चागीत', 'चर्या-गीतवृत्ति', 'दीपंकर श्रीज्ञान गीतिका', 'विमला रत्नलेखा', 'बोधिपथ प्रदीप' आदि उल्लेखनीय हैं। श्रीज्ञान के चर्चागीतों में बोधिसत्व के प्रति अगाध निष्ठा व्यक्त की गई है। इनमें अपरिग्रह आत्मान्वेषण, आत्मसंयम, तप-त्याग, समाधि, संबोधि आदि संबंधी अनुभवगम्य साक्षात्कारों को सहज सादृश्य-मूलक अलंकारों से भरी-पूरी भाषा में उपदेशार्थ नीतिवचन रूप में व्यक्त किया गया है। सम्यक् दृष्टि और सम्यक् आचार की व्याख्या करते हुए दीपंकर कहते हैं : "आत्मा तथा सभी प्राणी मणिदर्पण में बिंब की भाँति साफ दिखाई पड़ते हैं। तुम्हें अपने और पराए में अन्तर होने का वैसा भ्रम क्यों होता है, जैसा कि शिशु को अपनी छाया से होता है" ('चर्यागीत', सं० 1)। सहजयान द्वारा निरूपित 'महासुख' की अवधारणा पर प्रकाश डालते हुए दीपंकर उपदेश देते हैं कि "महासुख उत्तम और प्रिय है और वह मंडल में गृहीत है। तुम क्यों सोचते हो कि जो तुम अपने मानस में कल्पित तथा सृजित करते हो, वह स्वभाव में भी उसी प्रकार है" ('चर्यागीत'-2)। इसी प्रकार आचार्य ने 'तत्त्व' की विरल परिभाषा करते हुए कहा है : "विविध विकल्पों का जो भी उत्पादन है, वह शुभ तथा पवित्र प्रकृति

के विपरीत है। वह तत्त्व ही अकेले पवित्र है, जो कर्म तथा विकल्प से पूर्णरूपेण मुक्त है।" ('चर्यागीत'-7)।

विक्रमशिला का महागौरव यह भी है कि इसने हिन्दी को सरहपा के रूप में पहला कवि दिया और अन्तःसाधना की भारतीय परंपरा को सरहपा सहित चौरासी सिद्धों में से अधिकांश को इसने पोषित किया। सरहपाद की वाणी में एक ओर बौद्ध धर्म-दर्शन की सहजयान धारा प्रस्फुटित हुई और दूसरी ओर इसमें आधुनिक हिन्दी का सरस कंठ भी दोहा-छंदों में तरंगायित हुआ। सरहपा ने 'महासुख' के अनुभवों को आत्मविभोर हो व्यक्त किया है। साधना के सहज पथ पर चलने का आह्वान करने वाले इस कवि ने बोधिचित्त, नैसर्गिक जीवन, गुरु वचन, आंतरिक-सुचिता, करुणा आदि के साथ निर्वाण संबंधी प्रत्ययों को पारदर्श भाषा में अभिव्यक्त किया है, यथा : 'गिम्मल चित्त सहावता करहु अविकल सेहु।'

[बोधि, सर्वत्र है, चित्त का निर्मल होना ही असली बात है।]

मूल रहिअ जो चिन्तइ तात्त। गुरु आए सह एत्त विआत्त।
सरह भणइ णिउत्तणे जाणहु। एववहि पर महासुह माणहु॥

[निर्वाण मन कर्मपाश से मुक्त होता है। 'तत्त्व' अर्थात् वास्तविकता मूल रहित है। गुरु-उपदेश इतना ही व्यक्त करते हैं। सरह मानते हैं कि यही निपुणत्व है और यही महासुख है।]

जहि मण पवण ण संचर इ, रवि-ससि णाहि पवेस।
तहि बढ़ चित्त विसाम करु, सरहें कहिअ उऐस॥

[जहाँ पवन का संचार नहीं है, सूर्य चन्द्रमा का प्रवेश नहीं होता, सरह के अनुसार वहाँ मूढ़ चित्त को विश्राम करते हुए महासुख पाना चाहिए।]

भावाभावें वेण्णि न काज्ज। अन्तराल ट्ठि अ पाडहु बाज्ज।

[तत्त्व को न तो सद् कह सकते हैं और न सत्तारहित ही। उसे बीच की स्थिति में भी नहीं रखा जा सकता।]

विक्रमशिला की सिद्धभूमि ने लगभग पाँच सदियों तक बोधिसत्व, निर्वाण, महासुख आदि संबंधी तात्विक अनुभवों से मानवता के साधना-मार्ग का पथ-प्रदर्शन किया है। इस प्राचीन विश्वविद्यालय के सिद्ध आचार्यों, साधकों, तपस्वियों आदि ने बौद्ध धर्म-दर्शन की मुख्यधारा के भीतर महायान की उप-धाराओं—वज्रयान, मंत्रयान और कालचक्रयान की आधारशिला रखी। महायान के पूर्व बौद्धदर्शन में चरम सत्य के पर्याय बोधिसत्व को निवृत्तिमूलक श्रावक साधना द्वारा प्राप्य माना जाता था, किन्तु महायान की उक्त धाराओं में बोधि-सत्व को ब्रह्माण्ड में विद्यमान शाश्वत द्वन्द्व (डायलेक्टिक्स) में अन्वेषित किया गया। इनके अनुसार बोधिचित्त न तो मात्र निवृत्ति और न मात्र प्रवृत्ति द्वारा प्राप्त होता है। वह निश्चल एवं चल के समन्वयन में आविर्भूत होता है। इसलिए

महायान शून्यता अथवा प्रज्ञा की अगति को करुणा, मैत्री, दया आदि सद्भावों की मानवीयता में स्पन्दित करता है। इस चिन्ताधारा की मान्यता है कि प्रज्ञा और उपाय के युगनद्ध स्वरूप में निर्वाण बिंबित होनेवाला महासुख है। इस प्रकार विक्रमशिला के इन साधकों ने परम तत्त्व को इन्द्रियों की तृप्ति और शरीर के स्वभाव में ही सहज रूप से विकसित माना। इन्होंने अंत:साधना के अनेक अनदेखे गहरे संदर्भों की व्याख्या की और आत्महनन के बदले आत्म-उत्क्रमण के नये मार्ग को ढूंढ़ा। निस्संदेह सिद्धों की ये संतुलित विचारणा मौलिक साधना-पद्धति और उल्लसित वाणी, विश्व-प्रज्ञा और विदग्धता की प्रामाणिक ऊँचाई का साक्षात्कार कराती हैं। □

चार

ईद : मीलादुन नबी की पाक यादें

1462 साल वीत गये जब हजरत मुहम्मद साहेब सल्लेह अल्ला वो सल्लम इस दुनिया में आये थे। ईद मीलादुन-नबी उसी की मुबारिक यादगार है। इस मुकद्दस (Sacred) मौके पर मैं तमाम मुसलमान भाइयों को मुबारकबाद देता हूँ। उनकी इस खुशी में दिल से शरीक हूँ और उम्मीद रखता हूँ कि हजरत ने जो बातें बतायी हैं और जो पैगाम दिया है, उन पर वे पूरे तौर से अमल करते रहेंगे और समाज को अच्छी दिशा देने में वे अपनी भूमिका निभायेंगे।

मैं एक धार्मिक इन्सान हूँ और मेरा विश्वास है कि धर्म ने हर युग में इन्सानों को न केवल प्रभावित किया है, बल्कि उनका मार्ग-दर्शन दिया है। जीवन के कठोर समय में उसने इन्सान की उँगली थामी है और लाचारी के अंधकार में आशा का दीप बनकर जीवन को विश्वास के साथ आगे बढ़ने में मदद दी है। मेरा अनुभव है कि जब सारे सहारे टूटते और बिखरते हैं, तो खुदा सहारा बनकर सामने आता है और हाथ थाम लेता है।

धर्म गुरुओं का उपदेश मनुष्यता के लिए सन्देश है। भले देखने

में इन संदेशों में भिन्नता लगे, मगर कौन इन्कार कर सकता है कि इन सबका आधार एक है। सच्चाई, इन्साफ, ईमानदारी हर एक धर्म की शिक्षा है। हजरत मुहम्मद साहेब सल्लेह अल्ला वो सल्लम ने भी इन चीजों को आधार बनाया और न केवल सबको यह शिक्षा देते रहे, बल्कि जीवन-भर इस शिक्षा और अपने सिद्धान्त पर अडिग रहे।

तवारिख गवाह है कि उनके कट्टर प्रतिद्वन्द्वी भी उनकी सच्चाई में शक नहीं करते थे। नबी बनने से पहले और नबी बनाये जाने के बाद हर जमाने में उनका इंसाफ बेमिसाल माना जाता रहा। जानने वाले जानते हैं कि पवित्र काबा में हज्रे-अवसद लगाने का झगड़ा तय करने के लिए सबने हजरत को चुना, जबकि उनकी उम्र बहुतों से कम थी और हजरत मुहम्मद साहेब सल्लेह अल्ला वो सल्लम ने जो इन्साफ किया उसे सब लोगों ने दिल से मान लिया। उनकी ईमानदारी ऐसी थी कि दोस्त-दुश्मन सभी अपना सामान उनके पास रखा करते थे और उन्हें अमीरूल मोमनीन मानते थे।

कहने में ये बातें बहुत आसान लगती हैं, लेकिन व्यावहारिक जीवन में कठिन हैं। कथनी और करनी में जो अन्तर हुआ करता है, उससे हजरत मुहम्मद साहेब सल्लेह अल्ला वो सल्लम का जीवन पाक था और यह एक बड़ा कारण था कि उनका उपदेश बहुत कम समय में लोगों के दिलों में उतर गया।

हजरत मुहम्मद साहेब, सल्लेह अल्ला वो सल्लम जिस समाज में बढ़े थे, उसमें ऊँच-नीच, जात-पाँत, खानदान और कबीला का भेद-भाव बहुत था। उस जमाने में गुलामी की प्रथा भी थी। समाज में अमीर और गरीब की दूरी बहुत थी। उन्होंने पूरी जिन्दगी समाज के इन बंधनों के खिलाफ जंग की और लोगों के दिल बदल दिए। उन्होंने बताया—हर इंसान चाहे वह मर्द हो या औरत सब एक माँ-बाप की औलाद हैं और वह सब आदम के वंश से हैं, फिर यह भेद-भाव कैसा। हजरत मुहम्मद साहेब सल्लेह अल्ला वो सल्लम ने यह भी बताया कि पूरी दुनिया के इन्सानों को एक मर्द और औरत ने पैदा किया है, इसलिए सब एक समान हैं। खुदा के नजदीक वही इन्सान ज्यादा अच्छा है जो नेक और भला है।

उन्होंने अच्छा इन्सान उसे ही बताया जो अपने कर्म में अच्छा है। उन्होंने जात-पाँत, ऊँच-नीच के भेद-भाव पर करारी चोट की और अच्छे कार्यों पर बड़ा बल दिया। उनके दरबार में हजरत बेलाल और अबुजर की इज्जत किसी ऊँची जात वाले और बड़े पैसे वाले से किसी तरह कम नहीं थी। सारे स्त्री वर्ग को उन्होंने मरदों के बराबर माना और इज्जत का दर्जा दिया और जायदाद में हक का मर्तबा दिया।

उन्होंने सामाजिक परिवर्तन के लिए, भेद-भाव समाप्त करने के लिए और समाज को स्वच्छ आधार पर खड़ा करने के लिए ऐतिहासिक कार्य किया। ये पवित्र काम न आज आसान हैं और न कल आसान थे। यही कारण था कि उन्हें

अपनी जन्मभूमि को 53 साल की आयु में छोड़ना पड़ा और वह मक्का से मदीना आये। एक व्यक्ति को अपनी जन्मभूमि छोड़नी पड़े, यह कितनी कठिन बात है। लेकिन यह पढ़कर आश्चर्य होता है कि इस नाजुक परिस्थिति में भी आपने अपना पवित्र काम बन्द नहीं किया, मदीना पहुँचते ही आपने सामाजिक परिवर्तन का वह इंकलाबी काम किया जिसे बराबर याद रखा जाएगा। उन्होंने मक्के के ऊँची जातवालों से मदीना के आम लोगों की भाईचारगी करा दी और एक मक्का वाले को एक मदीना वाले के हवाले करके कहा कि यह तुम्हारा भाई है और दोनों शहर के लोगों ने इस नयी बिरादरी को दिल से मान लिया। हम इसे इंसानी बिरादरी का नाम दे सकते हैं जिसमें जात-पाँत का दूर-दूर तक कहीं निशान नहीं था।

हमें यह मानना चाहिए कि जात-पाँत पहचान बन सकती है, आधार नहीं बन सकती। अगर जात-पाँत को आधार मान लिया जाए तो इंसाफ और ईमानदारी समाप्त हो जायगी।

हजरत मुहम्मद साहेब सल्लेह अल्ला वो सल्लम ने पास-पड़ोस में रहने वालों का बराबर ध्यान रखा और यह बताया कि पड़ोसी किसी धर्म और जात का हो वह तुम्हारा अपना है, उसका तुम पर हक है, यह बुरी बात होगी कि पड़ोसी भूखा रहे और तुम पेट भर खा लो, पड़ोसी के पास कपड़ा नहीं हो और तुम पहन-ओढ़कर घूमते फिरो। उस जमाने में जो लोग समझदार थे, उन्हें यह शंका हो चली थी कि माल और सम्पत्ति में पड़ोसी को भी अधिकार मिल जाएगा और उन्हें भी हजरत मुहम्मद साहेब, सल्लेह अल्ला वो सल्लम कानूनी हकदार बना देंगे।

आज यातायात की सुविधा ने दूरियों को बहुत कम कर दिया। आज पूरी दुनियाँ एक शहर बन चुकी है, और एक प्रदेश के लोगों को समझना चाहिए कि सभी एक दूसरे के पड़ोसी हैं, चाहे वह किसी भी धर्म के हों। प्रत्येक व्यक्ति का दूसरे पर अधिकार है और प्रत्येक व्यक्ति का दूसरे के सम्बन्ध में कुछ दायित्व भी है। हर इंसान को दूसरे लोगों का, खासकर पड़ोसियों का, ख्याल रखना चाहिए और उनकी इज्जत करनी चाहिए। अगर हम ऐसा मन बना लें तो इस देश और प्रदेश की बहुत-सी समस्याओं का समाधान हो सकता है।

हजरत मुहम्मद साहेब सल्लेह अल्ला वो सल्लम ने इस बात पर बहुत जोर दिया है कि धर्म का दामन कर्म से बँधा हुआ है। धर्म केवल दर्शन नहीं है, धर्म केवल जानना और मानना नहीं है, धर्म अमल करने के लिए है।

मैं ऐसा मानता हूँ कि धर्म पर अमल करना धर्म के लिए लड़ने से ज्यादा कठिन है। धर्म के नाम पर लड़ा देना तो आजकल का फैशन बन चुका है। लेकिन ऐसा करनेवाला चाहे जिस धर्म का माननेवाला हो, वह न उस धर्म का मानने वाला है, और न उस धर्म के प्रति वफादार है, न अपने देश के प्रति वफादार है

और न उन लोगों का हितैषी है जिन्हें वह लड़ने पर उकसाता है।

हमारा मुल्क और हमारा प्रदेश कई मजहबों, तहजीबों, मान्यताओं और परम्पराओं की सर-जमीन है। यहाँ की भिन्नता में सुन्दरता है और जब तक अनेकता के साथ हम सब मिलकर एकता नहीं बनाए रखेंगे, जब तक हम सबों को अपना पड़ोसी नहीं बनायेंगे, हम आगे नहीं बढ़ सकते।

पड़ती है हर मकाँ पे नज़र
आफताब की
पुरसिश पे उतरती है जब
बखशिस सहाब की
वह देखती नहीं ये
सब्ज़ ये रेत है
हिन्दू का खेत है
कि मुसलमाँ का खेत है।

हजरत मुहम्मद साहेब सल्लेह अल्ला वो सल्लम न केवल मुसलमानों के पैगम्बर हैं, बल्कि वह इंसानियत के मसीहा और सामाजिक परिवर्तन के विशाल स्तम्भ हैं। आज की दुनियाँ के लिए उनके उपदेश अधिक फायदेमंद हैं। ऐसे महान् व्यक्ति किसी एक फिरका, किसी एक धर्म के मानने वालों की अमानत नहीं होते, वह सबके लिए आदर्श व्यक्ति होते हैं।

आज जबकि सारी दुनिया ईद-मीलादुन-नबी के मुबारक मौके पर हजरत मुहम्मद साहेब सल्लेह अल्ला वो सल्लम की बातों को याद कर रही है, मेरे दिल में यह ख्याल आता है कि क्यों नहीं हम सब मिलकर उनके उपदेश को सुनें। हम अपने व्यस्त जीवन और भाग-दौड़ की जिन्दगी में एक दिन उनकी बातों को सुनने और विचार करने के लिए रखें। साथ ही उस महान् व्यक्ति की याद में खुशी भी मनायें।

धर्मगुरुओं की पैदाइश के दिन हम सब छुट्टी करते हैं, ताकि उनके जीवन-दर्शन को जानें और समझें। फिर क्यों नहीं हम हजरत मुहम्मद साहेब सल्लेह अल्ला वो सल्लम के पैगाम को जानने के लिए और उस महान् व्यक्ति की याद के लिए एक दिन का वक्त निकालें। □

खंड : ङ

विविधा



एक

संविधान-संशोधन की संगतियाँ

संविधान में संशोधन क्यों? यह प्रश्न आज देश के हर वर्ग को आंदोलित कर रहा है। संसार के सबसे बड़े गणतंत्र की सर्वप्रिय प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने अनेक अवसरों पर विविध भाषणों में इसका स्पष्ट उत्तर दिया है कि 'संविधान में समय-समय पर संशोधन उसी जनता के लिए है, जिनके लिए संविधान बना है।' और तब से प्रेस में, प्लेट-फार्म पर, फोरम में, एसोसिएशन में—वार-एसोसिएशन हो या बुद्धिजीवी—हर जगह संविधान में संशोधन की गूंज सुनाई पड़ रही है। 31 दिसम्बर, 1975 और 1 जनवरी, 1976 को कामागाटा मारू नगर (पंजाब) में हुए भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के 75 वें खुले अधिवेशन तथा अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की नयी दिल्ली की 29-30 मई 1976 की बैठक में इस पर विशेष चर्चा हुई और प्रस्ताव पास हुए।

संसदीय कांग्रेस दल के विभिन्न राज्यों के संसद सदस्यों से सरदार स्वर्ण सिंह समिति ने विस्तार से विचार-विमर्श किया। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की राष्ट्रीय परिषद ने त्रिवेंद्रम में 7 से 11

फरवरी 1976 की बैठक में संविधान में संशोधन की आवश्यकता पर प्रस्ताव पारित किया। साम्यवादी (मार्क्सवादी) पार्टी ने भी संशोधन पर बल दिया, मगर अपने नुक्ते-नजर से।

मगर जोरदार आवाजें आने लगीं खेत-खलिहानों से, फैक्टरी-फार्मों से, किसान-मजदूरों से, अल्पसंख्यकों-हरिजनों से! आवाज जो दर्दभरी थी, आवाज जो 1971 में की गयी प्रतिज्ञाओं की याद दिला रही थी, आवाज जो पुकार-पुकार कर कहने लगी :

"नहीं मानेंगे यह कानून,
जो मुझसे गरीबी का पट्टा लिखाता है,
मिटाकर झोंपड़ी मेरी,
जो महलों को रिझाता है।
खा-खा कर मरें वे,
मौलिक अधिकार उनका है;
बिना खाये मरे हम, यह अधिकार मेरा है।"

—आजाद

अस्तु, इन्हीं बिलखती झोंपड़ियों और असुरक्षित वर्गों के दुख को दूर करने के लिए वर्तमान सामाजिक-आर्थिक ढाँचे में दूरगामी परिवर्तन की आवश्यकता आ पड़ी है। 1971 के चुनाव घोषणा पत्र में कांग्रेस ने कहा था, "गणतंत्र की आत्मा कहती है कि संविधान जनता की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं की पूर्ति का माध्यम बने। आर्थिक विकास के लिए संविधान में पहले भी संशोधन हुए हैं। यह हम लोगों का प्रयास होगा कि सामाजिक न्याय के लिए ऐसे संवैधानिक उपाय और संशोधन किये जायें, जो रास्ते से रुकावटों को हटाने के लिए आवश्यक हों।" जनता ने इस विचार का पूर्ण समर्थन किया और मध्यावधि चुनाव में दो-तिहाई बहुमत से जिताकर कांग्रेस को लोकसभा में भेजा। इससे बड़ा और कौन-सा 'मैनडेट' चाहिए था!

अहम प्रश्न यह है कि संविधान जनता के लिए है या जनता संविधान के लिए! इतिहास साक्षी है, जिन संविधानों ने बदलते समय की आवश्यकताओं के अनुसार जनाकांक्षाओं के अनुरूप अपने को नहीं ढाला, वे जनमत के प्रवाह से टकराकर चूर हो गये। लेकिन भारतीय संविधान कोई निरोधक अस्त्र नहीं, बल्कि वह जनता जनार्दन की चिरस्थायी मान्यताओं और भावनाओं को मूर्त-रूप देने वाला गतिशील संविधान है, जिसका लचीलापन और संवेदनशीलता जनमानस की आकांक्षाओं को साकार रूप देने की पूरी क्षमता रखता है। ऐसी कोई भी चीज पवित्र नहीं मानी जा सकती, जो बदलते समाज की आवश्यकताओं और वर्तमान परिस्थिति की माँग को पूरा करने का माध्यम न बन सके।

इसी कारण, लगभग 26 वर्ष पूर्व संविधान के जन्मदाताओं ने ही प्रावधान कर दिया है, इनमें परिवर्तन किस प्रकार किया जाये ? क्योंकि वे जानते थे, ज्यों-ज्यों भारत भूमि में सामाजिक और आर्थिक क्रांति का उद्घोष तीव्रतर होगा, त्यों-त्यों गरीबी, अज्ञान, बीमारी और असमानता विदा माँगेगी और तब इन्हें संविधान की जीवंतता की डोली पर ही चढ़ाकर विदा देनी होगी।

वह समय आ गया है, आता रहा है। संविधान ने समाज की उन गतिशीलता, स्पंदनशीलता और परिवर्तनशीलता को पहचाना है और इनके अनुरूप अपने कलेवर में अनेक संशोधनों को संहर्ष स्वीकारा है। परन्तु संविधान की इस स्पष्टता और लचीलेपन के वावजूद, हाल-साल में कुछ प्रावधानों की व्याख्या से इसके विकास में अवरोध हो गया है और आशंका होने लगी है कि वह विरूप न हो जाये। प्रयत्न है कि संसद के अधिकारों पर अंकुश लगाकर और उसकी वरीयता नष्ट कर, मंत्रिमंडलीय सरकार वाली वर्तमान संसदीय प्रणाली को राष्ट्रपतीय प्रणाली में बदल दिया जाये। संसद जनता की सार्वभौम इच्छा को प्रकट करने तथा उन्हें मूर्तरूप देने के लिए सबसे प्रामाणिक और प्रभावशाली उपकरण न रहे। गोलोकनाथ मुकदमे का कुख्यात फैसला यद्यपि बदल दिया गया है, तथापि केशवानंद भारती के मुकदमे के फैसले की तलवार लटक रही है। संसद को संवैधानिक संशोधनों के सहारे संविधान के बुनियादी ढाँचे को बदलने का अधिकार नहीं है। मगर यह बुनियादी ढाँचा क्या है ? संविधान में तो इसका कोई उल्लेख है ही नहीं। संविधान निर्माता जननायक थे, तथाकथित कानून के दास नहीं, प्रधानमंत्री के चुनाव सम्बन्धी मुकदमे का फैसला यह स्पष्ट संकेत देता है कि उच्चतम न्यायालय संविधान के किसी भी संशोधन को और विशेषकर बुनियादी ढाँचे को ढाल बनाकर, अवैध घोषित कर सकता है। संसद को यह मालूम नहीं कि उसका विधायी अधिकार कहाँ, कितना और कैसे बाधित होता है।

जब तक केशवानंद भारती मुकदमे का फैसला लागू है, तब तक सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन को तीव्रता देने के लिए किसी मूलगामी संशोधन को बुनियादी ढाँचे के विपरीत करार देकर उच्चतम न्यायालय सारे देश की प्रगति को रोक सकता है।

अस्तु संसद का विशेष अधिवेशन शीघ्र ही, (संभवतः अक्तूबर के अंतिम सप्ताह में) संविधान में दूरगामी परिवर्तन करने को कृत-संकल्प है। संशोधन शानदार है और जन-जन के आदर्शों के अनुरूप उनकी गौरव-गरिमा से मंडित।

वर्तमान संसदीय प्रणाली रहेगी। यह हमारे देश के लिए सबसे अधिक उपयुक्त है। भारत जैसे विशाल देश की रंग-बिरंगी क्षेत्रीय विविधताओं के लिए, उसकी एकता और अखंडता के लिए संसदीय प्रणाली सर्वोत्तम है। भारत सार्व-

भौम सत्ताप्राप्त लोकतांत्रिक गणराज्य है। धर्म-निरपेक्षता, समाजवाद और राष्ट्र की अखंडता की त्रिवेणी इसके चरणों का बराबर अप्रत्यक्ष रूप से प्रक्षालन करती रही है। संविधान के आमुख पर त्रिवेणी की यह धारा कलकल निनाद करती हुई प्रकट हो रही है।

संविधान का अनुच्छेद 368 स्पष्ट है कि संसद को संविधान में कोई भी संशोधन करने का पूरा अधिकार है। संविधान देश का सर्वोच्च कानून है और उसमें कोई संशोधन उतना ही मौलिक और महत्त्वपूर्ण है, जितना संविधान का शेष भाग। लेकिन उपरोक्त कारणों से अनुच्छेद 368 में संशोधन कर यह स्पष्ट कर दिया जाना आवश्यक हो गया है कि उपरलिखित अनुच्छेद में निर्णीत आवश्यकताओं के अनुसार पारित किये गये किसी भी संशोधन की वैधता को किसी भी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकेगी। संविधान के अनुच्छेद 16 के अनुसार, कोई भी ऐसा कानून नहीं बनाया जा सकता, जो मौलिक अधिकारों के अनुकूल न हो या उनमें से किसी का उल्लंघन करता हो। अनुच्छेद 32 और 226 के अनुसार उच्चतम न्यायालय मौलिक अधिकारों का परिपालन करा सकता है। संसद और विधानमंडलों की विधायी सत्ता अनुच्छेद 245 और 246 पर आधारित है।

समय-समय पर विधानमंडल द्वारा पारित विधि की संवैधानिकता को चुनौती दी जाती रही है। बताये गये प्रमुख कारण हैं; (क) विधान-मंडल को ऐसा अधिकार था ही नहीं, या (ख) उसका कोई प्रावधान संविधान के किसी प्रावधान के विपरीत था, या (ग) वह किसी मौलिक अधिकार का उल्लंघन करता था। ऐसे किसी कानून की संवैधानिकता को, चाहे वह केन्द्रीय हो या राज्य कानून, किसी भी उच्च न्यायालय में—एक साथ ही अनेक में या उच्चतम न्यायालय में चुनौती दी जा रही है। परिणामस्वरूप विभिन्न उच्च न्यायालयों में एक ही विषय पर विभिन्न निर्णय आते रहे हैं। अस्तु, संविधान में संशोधन कर यह व्यवस्था की जा रही है कि किसी केंद्रीय कानून या उसके अंतर्गत बने किसी नियम, नियमन या उपनियम की संवैधानिक वैधता को केवल उच्चतम न्यायालय में ही चुनौती दी जा सकेगी। इसी प्रकार राज्य कानून को उसी राज्य के उच्च न्यायालय में। हाँ, राज्य को उच्चतम न्यायालय में अपील का अधिकार रहेगा। ऐसे संवैधानिक वैधता का निर्णय करने के लिए उच्चतम न्यायालय के कम-से कम 7 न्यायाधीश और उच्च न्यायालय के कम-से-कम 5 न्यायाधीश और जहाँ 5 से कम हों, वहाँ सभी न्यायाधीश खंडपीठ में बैठेंगे। निर्णय दो-तिहाई के बहुमत से होगा और अंतिम खंडपीठ में सर्वसम्मति से। इस महत्त्वपूर्ण संशोधन से आज आये दिन अलग-अलग किये गये निर्णय को कार्यान्वित करने की कठिनाई समाप्त हो जायेगी।

अभी भारत के विभिन्न न्यायालयों में लगभग 70,000 रिट के केस लंबित

हैं। रिट, जो किसी दारोगा के स्थानांतरण के रोक के लिए किसी आरक्षी अधीक्षक के खिलाफ दिये गये हैं; रिट, जो किसी टैक्स चुरानेवाले की गिरफ्तारी के खिलाफ दिये गये हैं; रिट, जो जनता के धन को गबन करनेवाले भ्रष्ट कर्मचारी के पक्ष में दिये हैं; रिट, जो'''आदि-आदि। ये सभी रिट अनुच्छेद 226 में 'किसी अन्य उद्देश्य के लिए' के अंतर्गत दिये गये हैं। रिट का यह व्यापक अधिकार सिर्फ उच्च न्यायालय है। उच्चतम न्यायालय का यह अधिकार सिर्फ मौलिक अधिकारों के परिपालन तक ही सीमित है।

रिट के इस अनुचित उपयोग को ही ध्यान में रखते हुए कांग्रेस कार्य समिति तथा एक उप-समिति ने परमपूज्य स्वर्गीय पंडित जवाहर नेहरू की अध्यक्षता में एक सिफारिश की थी कि "आदेशों, आज्ञाओं या रिटों को जारी करने का अधिकार उन मामलों तक सीमित किया जाये, जहाँ मुख्य रूप से न्याय नहीं हो सका है या जहाँ सार्वजनिक हित के लिए ऐसा वांछनीय है। अनुच्छेद 226 (1) के अंतिम वाक्य से 'किसी अन्य उद्देश्य के लिए' निकाल दीजिए।"

संशोधन पर विचार-विमर्श के क्रम में कुछ लोगों ने प्रभावशाली ढंग से यह कहा है कि अनुच्छेद 226 के इन शब्दों ने एक नागरिक के लिए 'नौकरशाही अतिरेकों' के विरुद्ध वास्तविक संवैधानिक संरक्षण का कार्य किया है और अगर इसे हटा दिया जाये, तो फ्रांसीसी नमूने के आधार पर एक न्यायाधिकरण की स्थापना हो, जो शिकायतें सुने और उपयुक्त निदान प्रदान करे। मेरी राय में इस अधिकार का नौकरशाही के अतिरेकों की तुलना में अधिक दुरुपयोग ही हुआ है और जहाँ तक न्यायाधिकरण के गठन का प्रश्न है, उसके लिए हमारी प्रशासकीय कानून प्रणाली अभी यथायोग्य विकसित नहीं हुई है।

अस्तु, जवाहरलाल उप-समिति की सिफारिशों के अनुसार अनुच्छेद 226 से 'और किसी उद्देश्य के लिए' शब्द के निकाल देने का प्रस्ताव है। किंतु उच्च न्यायालयों को मौलिक अधिकारों के परिपालन के लिए रिट जारी करने का वर्तमान अधिकार अक्षुण्ण रहेगा। लेकिन एक प्रस्तावित नयी धारा के अनुसार, वे इस अधिकार का प्रयोग उन्हीं मामलों में कर सकेंगे ; जहाँ (क) किसी कानूनी उपबंध के उल्लंघन के कारण आवेदनकर्ता को वास्तविक क्षति पहुँचती हो; और (ख) उन मामलों में कर सकेंगे, जहाँ किसी अवैधता के कारण भारी मात्रा में न्याय की अवहेलना हो रही हो। दोनों ही मामलों में आवेदक को न्यायालय का यह समाधान करना होगा कि उसके पास और कोई उपचार उपलब्ध नहीं है।

इसी अनुच्छेद में दूसरी धारा जोड़ कर यह प्रावधान किया जायेगा कि इस शक्ति का प्रयोग तभी किया जायेगा, जब दूसरे पक्ष को सूचना और सुनवाई का अवसर दे दिया गया होगा। उच्च न्यायालय को किसी ऐसे मामले में अंतरिम आदेश देने की शक्ति नहीं होगी, जहाँ इसके फलस्वरूप सार्वजनिक महत्त्व के

मामले की या कारावास से दंडनीय किसी अपराध की जाँच या अन्वेषण में विलंब की संभावना हो या किसी जनहितकारी संकर्म या परियोजना के कार्यान्वियन में देर हो जाये। यह स्पष्ट कर दिया जायेगा कि चुनाव संबंधी मामलों में कोई रिट जारी नहीं होगी।

सेवाओं से संबंधित मामलों पर विचार करने के लिए चाहे उनका संबंध केंद्र से हो या विभिन्न राज्यों से, दोनों के लिए पृथक् प्रशासकीय न्यायाधिकरण का गठन केंद्रीय कानून के अंतर्गत किया जायेगा। इसी प्रकार श्रमिक न्यायालयों और ओद्यौगिक न्यायालयों की सुनवाई के लिए एक अखिल भारतीय श्रम अपील न्यायाधिकरण का निर्माण किया जायेगा। राजस्व, भूमि-सुधार तथा अन्य आवश्यक सामग्रियों की उपलब्धि तथा वितरण संबंधी मामलों का निष्पादन भी न्यायाधिकरणों के द्वारा ही होगा। इस धारा में वर्णित किसी भी मामले में उच्चतम न्यायालय को कोई भी रिट जारी करने का अधिकार नहीं रहेगा। हाँ, इनके फैसले के खिलाफ विशेष अनुमति प्राप्त होने पर अपील करने का अधिकार रहेगा।

संविधान के निदेशक तत्त्व संबंधित अनुच्छेद 31 के (ख) में यह प्रावधान है कि 'समुदाय की मौलिक संपत्ति का स्वामित्व और नियंत्रण इस प्रकार बँटा हो कि जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो,' तथा (ग) में निर्देश है कि 'आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले कि जिससे धन और उत्पादन साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी केंद्रीयकरण न हो।'

उपरोक्त निदेशक सिद्धांतों का कार्यान्वियन करने के लिए जो भी कानून बनाया जाये, वह अनुच्छेद 14 अर्थात विधि के समक्ष समता; अनुच्छेद 19 अर्थात वाक्-स्वातंत्र्य तथा अन्य स्वातंत्र्य अधिकार एवं अनुच्छेद 31 अर्थात संपत्ति का अधिकार के उल्लंघन के आधार पर अवैध नहीं माना जायेगा। यह व्यवस्था अनुच्छेद 31 (ग) में है। वर्तमान संशोधन के अनुसार 31 (ग) का क्षेत्र विस्तृत किया जायेगा, ताकि संविधान के भाग (4) अर्थात राज्य की नीति के निदेशक तत्त्व में वर्णित सभी या किसी भी सिद्धांत को कार्यान्वित करनेवाले कानूनों को सम्मिलित किया जाये। इसी प्रकार 31 (ग) के अंतर्गत पारित किसी कानून को इस आधार पर भी चुनौती नहीं दी जायेगी कि वह किसी मौलिक अधिकार का उल्लंघन करता है।

राष्ट्रपति, उप-राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री एवं अध्यक्ष (लोकसभा) के विवादास्पद चुनावों का निर्णय एक प्राधिकरण या अधिकार-प्राप्त संस्था करेगी। साथ ही यह भी प्रस्ताव है कि संविधान में एक अन्य संस्थान या प्राधिकरण के गठन का आदेश हो, जो संसद एवं विधान मंडलों के सदस्यों की अयोग्यता संबंधी प्रश्नों पर निर्णय दे।

अनुच्छेद 352 (आपातस्थिति) पर गंभीरतापूर्वक विचार-विमर्श हुआ है। इस अनुच्छेद को इस प्रकार संशोधित किया जायेगा कि राष्ट्रपति, पूर्ण संतुष्टि के बाद, यदि चाहें, तो आपातस्थिति की घोषणा भारत के उस भाग तक सीमित कर दें, जिसका घोषणा-पत्र में उल्लेख हो। साथ ही यदि राष्ट्रपति चाहें तो भारत के क्षेत्र के किसी भी भाग से, जहाँ आपातस्थिति घोषित हो चुकी है, आपातस्थिति हटा लें। पिछले कुछ वर्षों के अनुभव के आधार पर इस संशोधन का अपना विशेष महत्त्व है।

संविधान के लागू होने के पिछले 26 वर्षों में केंद्र एवं राज्य समन्वय के फल सुखद और जनहितकारी रहे हैं। किंतु पिछले कुछ वर्षों में कुछ राज्यों के अपरिपक्व नेतृत्व ने यह सिद्ध कर दिया है कि भारत जैसे महान देश के लिए शक्तिशाली केंद्र ही लाभकारी है। जब-जब राज्यों में कानून और व्यवस्था पर दबाव पड़ा है और स्थिति गंभीर हुई है, तो केंद्र को शांति स्थापित करने के लिए प्रभावी सहायता देनी पड़ी है। अस्तु एक नया अनुच्छेद 257 अंतःस्थापित किया जा रहा है, जिससे केंद्र को यह अधिकार होगा कि किसी राज्य में विधि और व्यवस्था की गंभीर परिस्थिति का सामना करने के लिए संघ के सशस्त्र बल या किसी अन्य बल को भेज सके। ऐसा बल केंद्रीय सरकार के निर्देशों के अनुसार कार्य करेगा। वह कतई राज्य सरकार के नियंत्रण के अधीन नहीं होगा।

प्रसन्नता की बात है कि शिक्षा को समवर्ती सूची में सम्मिलित करने का संशोधन किया जा रहा है। अपेक्षित सामाजिक और आर्थिक विकास की गति को तीव्र करने के लिए शिक्षा का बहुत अधिक महत्त्व है।

अनुच्छेद 311 (2) का संशोधन कर सरकारी सेवक को जाँच के दूसरे प्रक्रम में उसके विरुद्ध लगाये अभियोग के स्थापित होने जाने के बाद उसके विरुद्ध अभ्यावेदन करने का अवसर नहीं मिलेगा। मैं तो इस पक्ष में हूँ कि अनुच्छेद 311 को पूर्णतया हटा दिया जाये, क्योंकि इस प्रकार का (विस्तृत) अंधा अधिकार संसार के किसी भी गणतंत्र में जनता ने अपने सेवकों को नहीं दिया।

संविधान का एक प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण संशोधन 'भाग 4 (के) का अंतःस्थापित किया जाना है। अब तक संविधान का सहारा लेकर लोग सिर्फ अपने अधिकारों की ही रट लगाते हैं, किंतु अब उन्हें अपने मूल कर्तव्यों का भी पालन करना होगा। इन दस मूल कर्तव्यों के द्वारा संविधान को एक विशिष्ट गरिमा और प्रतिष्ठा प्रदान की जायेगी और कुछ ही संशोधन हैं, जिनका मैं उल्लेख नहीं कर पाया हूँ। उपरोक्त संशोधन संबंधित प्रस्तावों के कारण अन्य धाराओं में भी कुछ अनुषांगिक संशोधन करने पड़ेंगे।

इस प्रकार संविधान के स्वर्णिम गणतंत्रात्मक कलश को समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता और राष्ट्र की अखंडता के स्वर्णिम आदर्शों से मंडित किया जा रहा है।

संविधान के प्रस्तावित संशोधन निश्चयात्मक रूप से यह स्थापित कर रहे हैं कि गणतंत्र में संसद और विधान मंडल जनता की आकांक्षाओं, अभिलाषाओं और अरमानों की पुंजीभूत शक्ति है—उसकी सर्वोपरि इच्छा का प्रतीक।

प्रधानमंत्री ने 1970 में, लोकसभा में संविधान (24 वाँ) संशोधन विधेयक विचारार्थ प्रस्तुत करते हुए कहा था :

"परिवर्तन में कठिनाइयाँ तो होती ही हैं और उसके लिए कुछ समायोजन की भी आवश्यकता पड़ती है, किंतु परिवर्तन को टाला नहीं जा सकता। इतिहास का रुख उलटा नहीं जा सकता। विकल्प स्पष्ट है। या तो हम शांतिपूर्ण ढंग से और सहमति से परिवर्तन लायें, अन्यथा परिवर्तन जिस ढंग से आयेगा, उसे, मुझे विश्वास है, न तो यह संसद ही और न ही यह देश पसंद करेगा।"

1970 से सितंबर, 1976 के बीच की घटनाओं ने हर घर के मुंड़ेरे से इंदिरा जी के इस सत्य को उद्‌घोषित किया है—परिवर्तन शांतिपूर्ण ढंग से या खूनी क्रांति के रास्ते से ? संविधान में वर्तमान संशोधन इसी सत्य को अंगीकार करता है, शांतिपूर्ण ढंग से परिवर्तन और इसकी अंतःस्थापना का आग्रह करता है।□

दो

मतदाता क्या सोचता है ?

देश में जोर-शोर से लोकसभा चुनाव का प्रचार चल रहा है। पुराने सधे-साधे, जीते-हारे, मारे-पिटे दलों के साथ ही साथ रंग-बिरंगी तितलियों ने भी पंख पसार कर हवा के रुख और रफ्तार का अंदाजा लेने का फैसला किया है; कुछ नये दल के रूप में और कुछ व्यक्तिगत बानगी के साथ।

मतदाता सोच रहा है। बहुत तो शायद सोच चुका है। वह भ्रमित तो नहीं, परन्तु हैरान अवश्य है। वाल्मीकि रामायण पढ़ने वालों के गले दल-बदल रामायण उतरती नहीं। मगर इस नयी रामायण के राम, हनुमान और लक्ष्मण में वह रुचि अवश्य ले रहा है। वह उस अयोध्या को खोज रहा है, जहाँ दलबदलू रामायण के राम ने पहली बार अपना करिश्मा दिखाया होगा। निश्चय ही वह गंगा-यमुना की हरीतिमा में बसा कोई उपनगर होगा, जहाँ जनता की भलाई के लिए इस कलियुगी राम ने एक झटके में साधारण सदस्यता की अनेक सीढ़ियाँ पार कर अध्यक्ष की कुर्सी हथिया ली होगी। और तब से कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा। बाल्मीकि रामायण के हनुमान

ने हृदय फाड़ कर अपना राम-प्रेम दिखाया था, कलियुगी हनुमान बार-बार मुँह फाड़ कर राम के तथाकथित गाँव-प्रेम के अनुकूल उनकी तथाकथित महिमा को भी धूलि-धूसरित करता रहता है। और लक्ष्मण तो एक नहीं, अनेक हैं। सभी एक से एक बढ़ कर। त्रेता के लक्ष्मण ने कहा था कि सीता के पैर की पैंजनी पहचानता हूँ, कलियुगी लक्ष्मण-समूह माथे का मनटीका पहचानने में होड़ लगाते हैं।

और जनता भ्रमित है। वाल्मीकि रामायण के महामानव राम ने प्रातः-स्मरणीया सीता की अग्निपरीक्षा के बाद भी उन्हें वन भेज दिया; सिर्फ अपनी एक प्रजा के आरोप पर। अश्वमेध के घोड़े की रक्षा में चक्रवर्ती राज्य की प्रतिष्ठा के लिए राम और सहोदरों ने पुत्रों के साथ घोर संग्राम किया। राजा और प्रजा की मर्यादा को बढ़ाया। मगर दलबदलू रामायण के महामानवों ने अपने पुत्रों को जंगल नहीं, महलों में रखा और 'अहो रूपम, अहो ध्वनि', की महिमा से मंडित किया।

जनता गुनती है। कभी-कभी फुसफुसाहट से ऊपर उठ कर बगल-अगल से और अपने-आपसे पूछती है, "इतनी जल्दी कैसे हो गया यह सब? प्रजातन्त्र की गाड़ी कैसे उतर गयी पटरी से? क्या फिर स्थापित हो सकेगी अपने निश्चित मार्ग पर? क्या उसके मूल्यों की पुनर्प्रतिष्ठा हो पायेगी?"

दूर-दराज के नयानगर-महागामा गाँव में तार के डमोला की छाया तले बैठी बुढ़िया माँ की सारी सम्पत्ति एक अल्युमिनियम का कटोरा है। उसी से माँगती, उसी में खाती और उसी में पानी पीती है। अपने पुराने किसी परिचित उम्मीद-वार बेटे से बहुत दिनों के बाद भेंट होने पर कहती है, "रे बेटा, बड़ा जुलुम होय गेले। आव त डकैतों के हुकुम होय गैलो छय कि जौं एक घर में नय पूरो तो सात घर लूट।" (रे बेटा, बड़ा जुल्म हो गया। अब डकैतों को हुक्म हो गया है कि अगर एक घर लूटने से नहीं पूरे, तो सात घर तक लूट सकते हो।) पूछने पर कि उसको क्या डर है, बुढ़िया ने तुरत कहा, "अल्मूनियम का कटोरा तो है, वही ले जायेगा, तो पानी कैसे पियेंगे?" फिर ठहर कर बोली, "आवे त डकैतें झूठ भात और माटी कर हँड़िया लय जाय छे।" (अब तो डकैत जूठा भात और मिट्टी की हाँडी भी ले जाता है।)

मतदाता इस नयी शासन-व्यवस्था को देखता है, जिसमें इस नये समतावाद के उदय के पश्चात् बुढ़िया को अल्युमिनियम के कटोरे का और सेठ को अपनी तिजोरी का बराबर डर हो गया है। पहली बार तराजू के एक पलड़े पर हड्डी तक सूखी, कमर से झुकी बुढ़िया का एक मुट्ठी प्राण तराजू के दूसरे पलड़े पर चढ़े सेठ के हीरे-जवाहरात में लिपटी बेशकीमती जान से कम नहीं है। देश में आज सबसे बहुमूल्य वाद 'प्राणवाद' है। चुनाव के दफ्तरों पर समाजवाद का नहीं,

प्राणवाद का साइनवोर्ड टँगा है।

मतदाता मन-ही-मन सोचता है, उसने कितनी बार वोट दिया? क्या इस बार का मतदान उसे वह शासन-व्यवस्था दे पायेगा, ताकि उसकी छीनी जमीन, उसकी लुटी फसल उसको वापस मिल जाये? क्या उसकी सड़कें उठाईगीरों और ठगों से छिन कर इन्सानियत को वापस मिल जायेंगी? क्या उसका मत देश की रेल, जहाज, बस आदि को समय पर चलने को बाध्य कर देश के लाखों-लाख व्यक्तियों के समय साधन को बचा पायेगा?

एक बुद्धिजीवी के प्रश्नों के आधार पर—यथा आपात्स्थिति, पहली खोकर दूसरी पायी आजादी, वर्तमान कीमतों की आकाश-विचरण की विलासिता आदि —हर बार थूक कर, मुँह बनाकर मध्यवर्गीय महिला ने कहा, "किस-किस चीज को गिनाऊँ बाबू? दाल,चावल, तेल, डालडा, चीनी, डीजल, किरासन तेल, सभी में आग लग गयी है। गाड़ी चलाऊँ कैसे?"

मतदाता सोचता है, क्या उसका मतपत्र कीमतों की गगनचूंबी अभिलाषा को उसकी जेब के साथ संधि करने को मजबूर करा पायेगा?

सांवल, अलीगढ़, जमशेदपुर के दंगे क्या अनायास घटी कुछ मिसालें हैं या भारतीय गणतन्त्र के सर्वोत्तम आदर्श पर सोच-समझ कर किया गया आक्रमण? मन्दिर से उठते घंटे-घड़ियाल की आवाज और मस्जिद से पुकारती अजान क्या भारतीय जन-मानस पर वर्षों से छाये धर्मनिरपेक्षता के मनभावन इन्द्रधनुष को फिर चमका पायेगी?

मतदाता के इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर क्या उसका मतपत्र है?

वह जानना चाहता है कि देश की सीमाओं के पार विदेशों में उसकी साख कितनी बढ़ी, कितनी घटी? क्या 3 और 6 जनवरी का मतदान, नयी लोकसभा का निर्माण, उसके प्यारे देश की प्रतिष्ठा में चार चाँद लगा पायेगा? ह···वा··· ना···लु···सा···का।

भारतीय गणतन्त्र के सभी प्रमुख आदर्श विकृत हो रहे हैं—समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता, गुटों से अलग रहने की नीति, आत्मनिर्भरता आदि। जीवन की पाँच आवश्यकताओं से आवेष्ठित उसका समाजवाद विश्व के साम्यवाद और विविध वादों में सबसे सरल है। मगर रोटी, कपड़ा, मकान, स्वास्थ्य और शिक्षा के पाँच रंगों से आभूषित समाजवाद का रथ अभी दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता, मद्रास आदि शहरों के विस्तृत कुलीन मार्गों पर ही क्यों घूम रहा है? क्या वह कब तक अन्तीचक, पुरैनी, सुलतानगंज, पीरपैंती, मेहरामा, महागामा आदि भारत के लाखों-लाख गाँवों और कस्बों तक पहुँच पायेगा?

अस्तु अन्य लोकसभाओं के चुनावों से यह चुनाव बिलकुल भिन्न है। न नेहरू की सर्वव्यापी छाया है, न गरीबी हटाओ आन्दोलन का आतुर आग्रह और न

इन्दिरा हटाओ का प्रमुख प्रबल धुक्कड़।

प्रश्न जो चर्चित है : किस प्रकार रेल से उतरी गणतन्त्र की गाड़ी को पुनः सही दिशा-निर्देश दिया जा सकता है ? कैसे समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता, आर्थिक समानता, गुटों से अलग रहने की नीति, आत्मनिर्भरता आदि बहुमूल्य आधारभूत मूल्यों की पुनर्स्थापना की जा सकती है ?

मतदाता वह उम्मीदवार खोजता है, जो दलबदलू रामायण के सृजनहारों को लम्बे लूके से हटा कर पुनः मर्यादापुरुष राम का आदर्श स्थापित कर सके। ऐसा कार्य करे कि जिन सिद्धान्तों की दुहाई देकर, उनका मत लेकर देश की सर्वोच्च संसद में वह जाता है, उसका सम्मान और आदर करे। अपने ही स्वार्थों के लिए दल-बदल कर देश के स्थायित्व को खतरे में डाल, जन-साधारण के जीवन को असुरक्षित और अस्तव्यस्त न कर दे।

वह ऐसा प्रतिनिधि खोजता है, जो एक बार भागलपुर या भटिंडा, मुंगेर या मुर्शिदाबाद क्षेत्र से चुने जाने के बाद, सम्पूर्ण देश का प्रतिनिधि हो जाने पर भी उस क्षेत्र और उसकी समस्याओं को न भूले। न भूले कि क्यूल से भागलपुर के बीच रेलगाड़ियाँ घण्टों-घण्टों लेट इसलिए चलती हैं कि इसके बीच दोहरी रेल लाइन नहीं है। न भूले कि सारा भागलपुर—यों कहें कि सम्पूर्ण पूर्वी बिहार अन्धकार में इसलिए जीता है कि कहलगाँव की गंगा का पानी और ललमटिया के कोयले से बननेवाला बिजली तापघर उसके लिए हर घड़ी मृग मरीचिका ही बन कर रह जाता है। उसे ऐसा प्रतिनिधि चाहिए, जो ललमटिया के कोयले और गंगा के पानी से कहलगाँव में बिजली तापघर बनवा दे। बड़े-बड़े सूरमा आये प्रतिनिधि बन कर, मगर मंदारहिल रेल लाइन बाँसी से बाँका या देवघर या दुमका नहीं बढ़ पायी।

अस्तु इस चुनाव में मूल्य जो बोलते हैं, वे शाश्वत हैं और स्थानीय। शाश्वत मूल्यों की पुनर्स्थापना और स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति की आशा रखता है इस बार मतदाता इस चुनाव से। किसान अपनी उपज का वाजिब मूल्य माँगता है, तो मजदूर उन कीमतों का अपनी अर्जित क्रयशक्ति से चिरस्थायी सम्बन्ध चाहता है। विद्यार्थी नयी शिक्षा-प्रणाली चाहता है और बुद्धिजीवी वह वातावरण, जहाँ उसे काम करने की स्वतन्त्रता हो। अन्धकार और गरीबी में लिपटे लाखों-लाख गाँवों के देहाती युवक अपना भविष्य माँगते हैं। उनकी पुश्तैनी जमीन (जो ऐसे भाग्यशाली हैं) स्वयं प्यासी है, उनकी प्यास कहाँ से बुझाये। हरिजन और पिछड़े वर्ग को उसका वाजिब हक़ और अधिकार चाहिए।

जो देगा इन प्रश्नों का जवाब, जो सुझायेगा इसका हल, जिसके पास

शक्ति और साहस है, उसे मिलेगा इस बार मतदाता का शुभाशीष, स्थायित्व (सरकार), सुरक्षा(शासन-व्यवस्था), स्वच्छता (भ्रष्टाचार उन्मूलन) और सरलता (दल-बदल की क्रूरता से दूर) को जो अंगीकार करेगा, जन-जन का विश्वास उसे ही मिल पायेगा। इस बार मीना उसी वीरांगना या वीर पुरुष (?) का है।□

तीन

उपभोक्ता आन्दोलन : एक संवाद

[भागवत झा आजाद से रंजीतकुमार की बातचीत]

रोजमर्रा की चीजों को प्राप्त करने में आम जनता को काफी परेशानी होती है। जैसे चीजें महँगी मिलती हैं, घटिया होती हैं या नकली होती हैं। उपभोक्ताओं की इन परेशानियों से निबटने के लिए सरकार क्या कर रही है?

इस प्रश्न का मतलब यह हुआ कि हिन्दुस्तान में कोई चीज अच्छी है ही नहीं, हम यह मान सकते हैं कि काम करने के सिलसिले में उपभोक्ताओं को कठिनाई होती होगी, लेकिन यह कहना कि केवल कठिनाई ही होती है और कुछ काम ही नहीं होता है, गलत है। आज जितना काम सार्वजनिक वितरण प्रणाली के सहारे सरकार कर रही है, इस आधार पर मैं यह कह सकता हूँ कि उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं, विशेषकर कमजोर वर्ग का ध्यान रखा जाता है। इसी सार्वजनिक वितरण प्रणाली के सहारे हम देश भर में दो लाख 97 हजार उचित मूल्य की दुकानें खोल सके हैं। देश भर में इन दुकानों को आवश्यक चीजें भेजी जाती हैं। इसके अलावा राज्य सरकारें भी अपनी तरफ से रेजर, ब्लेड, टायर आदि चीजें इन

वस्तुओं में जोड़ती हैं। उपभोक्ताओं के हित में हमने उद्योगपतियों से भी परामर्श किया है। उन्होंने सिद्धान्त रूप में यह स्वीकार कर लिया है कि जो वस्तुएँ उनके कारखानों में उत्पादित होती हैं और जिनको वे थोक दर पर व्यापारी को बेचते हैं, उसी दर पर वे सार्वजनिक वितरण प्रणाली को भी देंगे। इस तरह सार्वजनिक वितरण प्रणाली के सहारे हम दो काम करते हैं, पहला, चीजें मुहैया कराते हैं और दूसरा, उचित मूल्य पर सामान उपभोक्ताओं को देते हैं। आज शहरों में 64 हजार, 200 उचित मूल्य की दुकानें हैं, जबकि गाँवों में 2 लाख 22 हजार दुकानें हैं। 1979 में हमने इन दुकानों के सहारे 189 लाख टन सामान वितरित किया, जबकि 1982 में इन दुकानों के जरिए 256 लाख टन सामान उपभोक्ताओं को दिया गया। यानी वितरण की औसत दर 14·4 प्रतिशत बढ़ी। रुपये के हिसाब से 1979 में 2668 करोड़ रुपये का सामान बेचा गया, जबकि 1982 में 3638 करोड़ रुपये का सामान उपभोक्ताओं को दिया गया।

महानगरों में तो उपभोक्ताओं को सामान आसानी से मिल जाता है, किन्तु कस्बों और गाँवों में दिक्कतें आती हैं।

हाँ, मैं यह मानता हूँ कि कुछ जगहों पर लोगों को परेशानियाँ होती होंगी। इन कठिनाइयों को दूर करने का उपाय तो एक ही है, हम अधिक सतर्कता बरतें। इसके लिए हमने निरीक्षण विभाग बनाया है। हमारे अधिकारी विभिन्न स्थानों पर तैनात किये जाते हैं। अधिकांश स्थानों से शिकायत आती हैं कि इंस्पेक्टर ईमानदारी से काम नहीं करते। इस संदर्भ में हम कहेंगे कि सिर्फ सरकार या उसकी मशीनरी के जरिये ही इन सारी कठिनाइयों का समाधान नहीं हो सकता।

इसके लिए देश में जबरदस्त उपभोक्ता आन्दोलन की जरूरत है। यह उपभोक्ता आन्दोलन सरकार द्वारा नहीं चलाया जा सकता। यदि यह आन्दोलन सरकार चलायेगी तो वह सरकारी आन्दोलन बन जायेगा। जैसे सहकारिता आन्दोलन हो गया। उपभोक्ताओं के स्वैच्छिक संगठनों की मदद से आन्दोलन चला है। इस आन्दोलन को बढ़ाने के लिए सरकार अपनी तरफ से काफी मदद करती है।

सरकार की नीतियाँ और कानून तो अपनी जगह ठीक हैं, लेकिन जो सरकारी नुमाइंदे हैं, वे व्यापारियों का साथ देते हैं यानी उपभोक्ताओं की उपेक्षा करते हैं। इस पर आपका क्या कहना है ?

नहीं, यह बात नहीं है। मैंने शुरू में ही इसका उत्तर दिया है। इतने बड़े पैमाने पर यह काम हो रहा है, जहाँ उत्पादन होता है, जहाँ वसूली होती है, जहाँ भंडारण होता है, इतना बड़ा काम तब तक कदापि सम्भव नहीं हो पाता, यदि सरकारी नुमाइंदे ठीक से काम नहीं करते। अब उदाहरण के लिए देखिए कि सारे देश में भारतीय खाद्य निगम के कोई छह हजार से भी अधिक खरीद-केन्द्र हैं।

हमारे पास भंडारण की बड़ी सुविधा है। हरियाणा, पंजाब और तमिलनाडु तक गेहूँ-चावल पहुँचाने के लिए कई केन्द्र हैं। अगर सरकारी नुमाइंदों का सहयोग नहीं होता तो यह सब सम्भव नहीं होता। हम यह कर ही नहीं पाते।

यह तो मैं मानता हूँ कि कहीं पर वस्तुएँ प्राप्त करने में कठिनाई हो सकती है। वे कोई देवता तो हैं नहीं। उनकी भी कुछ कमजोरियाँ हैं। अगर कहीं ऐसे गलत सरकारी आदमी हैं, तो उन्हें सजा देने का भी इन्तजाम है। लेकिन यदि अधिसंख्य ऐसे ही होते, तो इतने बड़े पैमाने पर इतने विशाल देश में यह सब सम्भव नहीं हो पाता।

विदेशों में उपभोक्ता आन्दोलन ने काफी जोर पकड़ लिया है। भारत में उपभोक्ता आन्दोलन की स्थिति क्या है? क्या यह बहुत कमजोर है?

हाँ, हमारे भारत में यह बात है। भारत में उपभोक्ता आन्दोलन बहुत प्रारम्भिक अवस्था में है। विदेशों में जहाँ बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण हो चुका है, वहाँ पर उपभोक्ताओं की अनेक समस्याएँ हैं, इन देशों में इन समस्याओं के निराकरण हेतु सरकारी स्तर और स्वैच्छिक आन्दोलन के जरिए काफी काम हो रहा है। उपभोक्ता आन्दोलन सम्पन्न देशों में काफी विकसित हो चुका है, लेकिन विकासशील देशों में इसकी अभी शुरूआत ही नहीं हुई है। इसका कारण इन देशों में शिक्षा का अभाव और गरीबी है। इन दोनों कारणों से उपभोक्ता आन्दोलन कमजोर होता है। विकसित देशों की भाँति हमारे देश में स्वैच्छिक उपभोक्ता आन्दोलन का विस्तार, स्वैच्छिक उपभोक्ता संगठनों के द्वारा हो रहा है। इसके लिए हमने अभी एक उपभोक्ता परिषद का गठन किया है, जिसका मैं अध्यक्ष हूँ। इसमें सारे राज्यों के प्रतिनिधि हैं। कुछ स्वैच्छिक संस्थाओं के प्रतिनिधि भी हैं। हमारा मुख्य उद्देश्य यह है कि इस परिषद के जरिए हम उपभोक्ताओं को शिक्षित करें। उन्हें दिशा-निर्देश दें।

हम यह भी देख रहे हैं कि उपभोक्ताओं का संरक्षण किस प्रकार किया जा सकता है। अभी मध्यप्रदेश सरकार ने एक सराहनीय काम किया है। वहाँ एक उपभोक्ता संरक्षण विधेयक लाया गया है, जो अपनी तरह का अनोखा विधेयक है। मैंने अन्य राज्य सरकारों से इसका अनुसरण करने का आग्रह किया है।

उपभोक्ता सरकार और व्यापार की सही-सही भूमिका क्या होनी चाहिए?

उपभोक्ता का तो संगठन होना चाहिए। उनका आन्दोलन मजबूत हो, ताकि उनमें अपने हित के लिए जागरूकता और संगठन की भावना पैदा हो, जिससे कि वे अपने अधिकार को पहचानें। वस्तुओं का माप यदि कम हो या परिमाण में कम हों तो उसके खिलाफ उपभोक्ता आवाज उठायें। जब तक वे सरकार का ध्यान इस अनियमितता की ओर आकृष्ट नहीं करेंगे तब तक सरकार कोई कार्रवाई नहीं कर पायेगी। उनका तो कर्तव्य है कि वे अपने अधिकारों के लिए लड़ें।

व्यापारियों की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण है। वे उचित मूल्य पर सही माप में, अच्छी किस्म की वस्तुएँ दें। हम जो सामान उन्हें देते हैं वह बहुत अच्छी किस्म का होता है। हम उनसे आशा करते हैं कि वे वही बढ़िया सामान उपभोक्ताओं को भी दें। व्यापारियों की जवाबदेही ज्यादा बढ़ जाती है। व्यापारियों का यह भी कर्तव्य है कि वे उपभोक्ताओं से उचित मूल्य लें। तौल भी सही करें और वस्तुओं की सही किस्म भी दें। कभी-कभी व्यापारी भ्रामक प्रचार करते हैं, विज्ञापन के जरिए। कभी-कभी वे विशेष कम्पनी का माल ही रखते हैं, जबकि दूसरी कम्पनी की वही चीज कम मूल्य पर और अच्छी हो सकती है। व्यापारी स्वयं संगठित होकर एक आचारसंहिता बनाएँ, ताकि सरकार और उपभोक्ता को यह मालूम हो कि वे इस नियम का पालन कर रहे हैं या नहीं। यदि कोई व्यापारी आचार-संहिता के किसी नियम का उल्लंघन करे तो स्वयं उसके संगठन को उसकी खबर लेनी चाहिए।

सरकार का कर्तव्य है कि वह उपभोक्ताओं में जागरूकता पैदा करे। उनके अधिकार और कर्तव्य बताए। उनके बचाव के लिए कानून बनाकर सही संरक्षण दे। और कानून के अलावा भी कोई कठिनाई हो तो उसके समाधान के लिए प्रयत्न करे। हम उपभोक्ताओं के शैक्षिक संगठनों को बढ़ावा देने के लिए पूरा प्रयास कर रहे हैं। इस समय हमारा उपभोक्ता आन्दोलन प्रारम्भिक अवस्था में है, उसे बढ़ाने में सरकार को मदद करनी चाहिए।

कभी-कभी देखा जाता है कि आइ० एस० आइ० (भारतीय मानक संस्थान) का निशान होने पर भी चीजें घटिया होती हैं। आपका इस संस्था के बारे में क्या विचार है ?

ऐसी शिकायतें सही भी हो सकती हैं, लेकिन साधारणतया ऐसा होता नहीं है। यदि ऐसी कोई बात प्रकाश में आए तो इसका उपाय यह है कि ऐसी शिकायतें सम्बन्धित अधिकारियों या मन्त्रालय के पास भेजी जाएँ। या भारतीय मानक संस्थान को भेजी जाएँ। आइ० एस० आइ० का अधिकार है कि वह उसका नाम उपयोग करके घटिया वस्तुएँ देने वालों पर जुर्माना कर सके। आइ० एस० आइ० ने बहुत से मानक निकाले हैं। लेकिन इन मानक को सभी संस्थाएँ स्वीकार करें, यह जरूरी नहीं है। कम्पनियों के लिए भी यह बाध्यता नहीं है कि वे अपने उत्पादों पर आइ० एस० आइ० का निशान लगवाएँ। लेकिन जिन वस्तुओं के बारे में उत्पादकों ने स्वेच्छा से प्रमाणन लिया है और उनके सम्बन्ध में ग्राहकों को शिकायत हो तो आइ० एस० आइ० को लिख सकते हैं। शिकायत प्राप्त होते ही आइ० एस० आई० जाँच करती है। वस्तुओं की प्रमाणीकृत गुणवत्ता की जाँच करती है। नियमों का उल्लंघन होने पर उस वस्तु विशेष की बिक्री पर रोक लगा सकती है। आइ० एस० आइ० ने ऐसा विश्वास पैदा किया है कि बहुत-सी

कम्पनियाँ अपनी चीजों को ग्राहकों में विश्वास पैदा करने के लिए आइ० एस० आइ० का निशान लगवाती हैं। हाँ, सरकार ने कुछ चुनी हुई चीजों के उत्पादनों पर आइ० एस० आइ० का निशान लगवाना जरूरी कर दिया है।

हम लोग यह सोच रहे हैं कि प्रमाणन चिह्न की योजना के कार्यान्वयन का अभी जो अनुभव है, उसके आधार पर आइ० एस० आइ० निरीक्षकों को ज्यादा अधिकार दें और उल्लंघन करने वालों को सजा दें। लेकिन कुछ कठिनाइयाँ हर जगह हैं, कुछ असामाजिक तत्व हैं, जो इसका दुरुपयोग करते हैं। □

चार

युवा आक्रोश के स्वर

18 मार्च के पूर्व ही पटना की विभिन्न सड़कों और नुक्कड़ों पर विद्यार्थी रिक्शे पर खड़े होकर, हाथ में माइक लिये आते-जाते राहगीरों को संबोधित करते नजर आते थे। लंबे-लंबे बाल, पेण्ट-बुशर्ट, किसी-किसी की आँखों पर ऐनक, मूँछ की रेखें उभरती हुईं—आवाज नेताओं जैसी घिसी-पिटी नहीं और न उनके से अंदाज और नाज-नखरे। मगर आवाज़ क्रोध-मिश्रित, हृदय से निकलती हुई—कुछ कर गुजरने का अहसास लिये।

शिक्षा व्यवस्था में आमूल परिवर्तन कर इसे रोजगारोन्मुख बनाया जाये। डिग्री को आधार मानकर बेरोजगार युवकों की योग्यता कर्ज के लिए आँकी जाये। प्रत्येक महाविद्यालय में छात्रावास की समुचित व्यवस्था की जाये। छात्रवृत्तियों की संख्या और राशि बढ़ायी जाये। विश्वविद्यालय की नीति-निर्धारण समितियों तथा सिनेट, सिंडीकेट, एकेडेमिक कौंसिल में छात्रों का प्रभावशाली प्रतिनिधित्व हो। महंगाई पर अविलंब रोक लगायी जाये। जमाखोरों, मुनाफाखोरों को कठोर दंड दिया जाये। छात्रों को सस्ते दर पर

भोजन, पुस्तक एवं पठन-पाठन के लिए आवश्यक सामान की आपूर्ति की जाये। इन माँगों पर वे जोर देते थे। साथ ही उल्लास और जोश से '42 की क्रांति, रूसी क्रांति, फ्रांस की राज्यक्रांति का भी उल्लेख करते थे।

कहा जाता है कि उपरोक्त माँगों में से अधिकांश को सरकार ने मान लिया है। प्रश्न है, कब ? 18 मार्च के पहले या बाद ? प्रश्न महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह शासन के सोचने और करने और उसके दृष्टिकोण का संकेत देता है। इन माँगों को विद्यार्थियों ने आज ही नहीं रखा फिर इनकी प्राप्ति के लिए इन्हें ऐसा आंदोलन क्यों करना पड़ा ?

उत्तर स्पष्ट है, बहुत अधिक स्पष्ट। बिहार ने पिछली दशाब्दी में सभी राजनीतिक दलों को मंत्रिमंडल बनाने का अवसर दिया। कांग्रेसी सरकार, संविद सरकार, शोषित दल सरकारें बनीं, जिनमें प्रायः सभी राजनीतिक पार्टियों को अवसर मिला, मगर सरकार में आते ही उन्हें लकवा मार जाता। प्लेटफार्म से चिल्ला-चिल्ला कर कहे गये आदर्श-सिद्धांत और कार्यक्रम हवा हो जाते। नौकरशाही द्वारा प्रस्तुत फाइलों पर 'यथा प्रस्तावित' की मुहर लगाना इनका परम धर्म रहा।

अतः शासनतंत्र जनता के लिए नहीं, वर्ग विशेष की सेवा करता रहा। अयोग्यता और अस्वच्छता ने जन-जीवन को आक्रांत कर दिया। बढ़ती कीमतों का जवाब अधिक से अधिक उत्पादन है, किन्तु चीनी और डालडा इसके उदाहरण हैं कि बढ़ते उत्पादन के बावजूद भी सरकारी तंत्र, पूँजीपतियों से मिल कर चीजों का कृत्रिम अभाव बना सकता है। बढ़ती कीमतों को स्वच्छ प्रशासन द्वारा आगे बढ़ने से तब तक तो रोका ही जा सकता है, जब तक कमी को बढ़ता उत्पादन समाप्त न कर दे। केंद्र से भेजा गया अनाज—अपर्याप्त ही सही—अयोग्य और दूषित भ्रष्ट वितरण व्यवस्था के कारण जनता के पास पहुँचने के बजाय काला बाजार में पहुँचने लगा। रब्बी कैश प्रोग्राम में भेजा गया करोड़ों रुपया अनाम-गोत्र फार्म का पंप बनकर, जनता के खेतों में पहुँचने के बजाय पटना में खुले आकाश के नीचे बिखर कर तारे गिनने लगा।

क्या ये कारण यथेष्ट नहीं हैं कि इस दुर्व्यवस्था, अयोग्यता और चहुँदिशि व्याप्त भ्रष्टाचार के विरुद्ध आवाज उठे। जनता और उनके प्रतिनिधियों के सहने की सीमा की जितनी भी प्रशंसा की जाये थोड़ी; मगर महाविद्यालय और विश्वविद्यालय का युवा आक्रोश सड़कों पर आ जाये तो क्या दोष ? दोषी कौन ?

दुख की बात यह है कि विद्यार्थियों की इस उभरती शक्ति का दुरुपयोग करने के लिए सभी राजनीतिक पार्टियाँ मैदान में कूद पड़ी हैं। ये अपनी माँग के लिए प्रदर्शन करते आगे बढ़ते और उनके पीछे टीन में पेट्रोल और हाथ में दियासलाई लिये वे महानुभाव अपनी अर्द्धसैनिक संस्थाओं एवं गैरसामाजिक तत्त्वों के सहारे

आग लगाते। गोली चलती। वे खिसक जाते और मारे जाते ये निर्दोष विद्यार्थी। सुखद परिवर्तन यह है माननीय जयप्रकाश बाबू ने इनके द्वारा की जा रही हिंसा की अहिंसक हिंसा कर, बिहार को बहुत बड़ी हिंसा से अब तक बचा लिया है। मगर कब तक ? यह निर्भर करता है इन राजनीतिक दलों पर और असामाजिक तत्त्वों को दबा रखने की सरकारी क्षमता पर।

समाधान कठिन है, मगर आवश्यक। राजनीतिक पार्टियाँ विद्यार्थी-शक्ति की आड़ में अपना राजनीतिक दाँव-पेंच बंद करें। जनता की हृदय नजर में गिरती राजनीतिक कार्यकर्ता की तस्वीर को सजने-सँवारने का उपाय दूसरा है। राज्यस्तर पर राजनीतिक एवं प्रशासनिक नेतृत्व में ऐसा और इतना परिवर्तन हो कि विद्यार्थी, और युवा वर्ग, से तुरंत सीधा संपर्क स्थापित किया जा सके। उनको जेल से रिहा कर उनसे सीधा वार्तालाप किया जाये। यह तो सभी मानते हैं—भाषणों के जरिये, कि शिक्षा में परिवर्तन किये जाये। तब क्यों नहीं तुरंत कोठारी आयोग की सिफारिशों से प्रारंभ किया जाये।

भ्रष्टाचार और बढ़ती कीमतों पर सीधा प्रहार राजनीतिक एवं प्रशासनिक स्तर पर परिवर्तन से हो सकेगा। लेकिन बढ़ती कीमतों को रोकने के लिए अन्य आवश्यक कदम उठाने पड़ेंगे, जिनका प्रभाव तुरंत नहीं देर से पड़ेगा। मगर यह मालूम तो हो कि हम मंजिल की ओर सही दिशा में बढ़ रहे हैं !

विद्यार्थी और युवा आक्रोश पर देश की सामाजिक, राजनीतिक एवं प्रशासनिक पृष्ठभूमि में सोचना सही और निरापद होगा। निश्चय ही विरोधी पार्टियाँ इस अवसर का लाभ उठाना चाहती हैं, मगर इसका जवाब इन प्रतिक्रियावादी एवं उग्रपंथी शक्तियों को, उन कारणों को हटा कर दिया जाये, जिनकी गंदी नालियों में असंतोष और भ्रष्टाचार के कीड़े पलते हैं और जिनका सहारा लेकर ये शक्तियाँ जनजीवन को, गणतंत्र और समाजवाद को, असीमित हानि पहुँचा रही हैं। स्वर्गीय दिनकर जी के शब्दों में—

"समय शेष है नहीं पाप का अपराधी है व्याध
जो तटस्थ हैं (जो पदस्थ हैं) समय गिनेगा
उनका भी अपराध।" □

पाँच

पिपरा : अमानुषिकता की पराकाष्ठा

रात अपनी जवानी पर थी और आकाश में चाँद भी। पूनम से सिर्फ पाँच रात दूर चाँदनी के झरने राशि-राशि के मोती बिखेर रहा था, दूर-दूर तक फैली हरियाली पर। दूधिया चाँदनी में चने-खेसारी से प्लावित वैशाखी की क्यारियाँ निहाल हो रही थीं। इन खेतों के बीच कुछ ऊँचाई पर स्थित पिपरा गाँव की सत्ताईस झोंपड़ियाँ सौ हरिजन चमारों को अपने दामन में छिपाये ऊँघ रही थीं :

एकाएक दस बजिया (दस बजे रात) सन्नाटे को चीरती हुई राइफल की धार चीत्कार उठी। साथ ही आग के गोले झोंपड़ियों पर गिरने लगे। देखते-ही-देखते सारा टोला आग की लपटों में एकाकार हो गया।

रात भर—पूरे सात घंटे तक फौजी ऑपरेशन की नाईं सारे टोले को घेर कर पाँच-सात सौ द्विपद गिद्ध उन मरे-अधमरे, जले-अधजले हरिजन की जान से खेलते रहे। हाँक देकर एक स्थान में जमा किये-घिरे जानवरों की नाईं, इनका शिकार किया उन कलियुगी राक्षसों ने।

और परिणाम ? विलास रविदास का परिवार पूरा-का-पूरा—इस ज्वाला में जल कर भस्म हो गया। पूरा परिवार अर्थात् विलास और उसके घायल पुत्र कृष्ण-देव को अस्पताल में छोड़कर पूरे नौ व्यक्तियों को सीने से संगीन सटा कर मौत के घाट उतार दिया गया। विलास का घर टोले के पूरब का अंतिम घर था। हत्यारों ने किवाड़ी तोड़ दी। दो छोटी-छोटी कोठरियों में घेर कर विलास की पत्नी फुलवरिया (60 वर्ष), बेटा ब्रह्मदेव (10 वर्ष)—तीसरा कक्षा का विद्यार्थी, दो बहुएँ—मराछिया (35 वर्ष), मंजू (26 वर्ष), तीन पोते—उमेश (10 वर्ष), विश्वनाथ (4 वर्ष), संजय (3 वर्ष) और दो पोतियाँ—सौजंतिया (5 वर्ष), रमवतिया (3 वर्ष) को गोली के घाट उतारा। कुछ तत्काल मर गये होंगे और सम्भवत: कुछ के प्राण, प्रयाण को व्याकुल होंगे, तभी हत्यारों ने उन्हें घर के एक कोने में इकट्ठे कर झोंपड़ी में आग लगा दी। जीते-जी, घायल कराहती तीन पीढ़ियों को आग की भेंट चढ़ा दिया गया।

इस घर के सामने एक कुतिया गोली, या लाठी खाकर मरी पड़ी थी। हत्यारों को कुछ क्षणों तक भौंक-चीख कर उसने रोका था और अन्त में जिनका नमक खाया था, उनके महाप्रयाण के पूर्व ही चल वसी थी। शायद यह चित्रसेन राजा के शासनकाल की चित्रांगदा होगी, जो दूसरी बार शापित जीवन से मुक्ति पाने आयी थी। राजा चित्रसेन के महल के बगल में एक झोंपड़ी थी। उसमें रहती थी एक बुढ़िया और उसकी रूपवती पुत्री। राजा की नजर पड़ी और एक रात चित्रसेन उस झोंपड़ी के मेहमान बनने गये। चित्रांगदा ने भौंक-भौंक कर जब सिर पर आसमान उठा लिया, तो बुढ़िया ने बाहर निकल कर कहा था, "अरी चित्रांगदा ! जहाँ रक्षक ही भक्षक हों, वहाँ भौंकने से क्या लाभ ?" पिपरा की बुढ़िया तो अपनी चित्रांगदा को इतना भी नहीं कह पायी।

इसी झोंपड़ी की बगल में थी एक संकीर्ण कोठरीवाली झोंपड़ी। बुटाली गहरी निद्रा में सो गया था। शायद अपनी जमीन की वापसी का सपना देख रहा था। दरवाजे पर दस्तक पड़ी—नाममात्र को कोठरी की इज्जत ढकनेवाली किवाड़ी चरमरा कर टूट गयी और पलक मारते गोली बुटाली के सीने को पार कर गयी। चीख मुख से निकल पायी या नहीं, मगर तब तक एक भाले ने भी उसे बींध कर रख दिया। दूसरे दिन जब मैं वहाँ गया, तो वहाँ खून से भीगी जमीन, खून से सने कपड़े और खून का घूंट पीकर तब भी जिन्दा बुटाली का लड़का शिवनारायण मिला। शिव नारायण ने कहा, "बाबू (पिता जी) जमीन जोतने की साध लिये चले गये।" शिव नारायण के दादा नथुनी बचपन में ही स्वर्ग सिधारे। उनके चचेरे दादा ने कलकत्ता से आकर उनके हिस्से की जमीन भी लालच में आकर चतुरी भगत और भो० सिंह को दे दी थी। बुटाली ने वह जमीन लड़-भिड़ कर वापस की। रसीद कटाई प्रखण्ड से दफा 44-45 जीता। डिग्री मिली। मगर

जमीन पर दखल नहीं। शिव नारायण ने अश्रुपूर्ण आँखों को मूँद कर कहा—"पिछली बार तो बाबू भाले का घाव खाकर बच गये थे, मगर इस बार गोली और भाले ने मिल कर उनके प्राण ले ही लिये।"

देवनन्दन रविदास की कहानी भी यही है। जमीन हाई-कोर्ट से जीतकर मिली थी, मगर दखल ही नहीं पायी और तब तक कागज-पत्तर आग की ज्वाला में भस्म। एक हेक्टेयर जमीन अब मिले तो कैसे ?

पिपरा टोले के हरिजन एक समय जमीन के असली हकदार थे। मगर यहाँ के मुसलमान जमींदार ने जोर-जबरदस्ती जमीन पर कब्जा कर रखा था। 1947 के दंगे-फसाद में जब उनके पाँव उखड़ गये, तो पास के कल्याणचक गाँव आदि के धनी-मानी खेतिहरों के हाथ 'भागते भूत की लंगोटी सही' के दाम पर हरिजनों की जमीन को पुनः गिरवी रख कर चले गये। हरिजन तब से अब तक अपनी ही जमीन पर सर्वहारा बन कर जी रहे हैं। मात्र एक सेर खेसारी की मजदूरी दिन-भर की मेहनत के लिए और पाँच सौ ग्राम सत्तू। लाला रविदास की पत्नी शून्य में ताकती, सत्तू का एक कौर हाथ में उठाये, लिकटिक बच्चे को सूखी छाती से सटाये बोली, "बाबू, हम क्या करें ? सुबह से शाम तक मेहनत करतीं और मिलता, बदले में एक सेर खेसारी। हम लोग नसलींग—(नक्सलाइट) कौमनींग (कम्युनिस्ट) कुछ नहीं हैं, बाबू। यह पापी पेट नहीं मानता, कभी जोर से बोल पड़ती हूँ बस !"

लाला के घर के बगल में एक झोंपड़ी की नाम मात्र दहलीज पर 'न रो सकती और न बोल सकती' की अवस्था में पड़ी, शून्य में ताकती बूढ़ी गुलबिया का बेटा देवन उसकी बहू और उसका पोता श्रद्धानन्द—तीनों-के-तीनों उस रात की पाशविक क्रीड़ा के शिकार हो गये थे। बच गयी थी सिर्फ बूढ़ी माँ गुलाबी। मौन, विक्षिप्त, सरकार द्वारा घोषित पाँच और दो हजार मुआवजे की अधिकारी। ले भी पायेगी ? कहाँ रखेगी, इतनी सम्पत्ति ? किसलिए ? कब तक ? कहीं इसीलिए ही उसे भी न प्राण से हाथ धोना पड़े ? वे खूँखार, जालिम फिर न लौट आयें ? उधर अस्पताल में शिवनन्दन की पत्नी बुधानी ने दम तोड़ दिया था।

पिपरा टोले के 14 हरि के जनों ने उस रात हरि के दरवाजे पर जाकर टेर लगायी—कि "क्या अपराध है मेरा ? कब तक हमारा शिकार किया जायेगा ? क्या अपनी मेहनत के लिए वाजिब मजदूरी माँगना गुनाह है ?"

शिव तो समाधिस्थ ही रहे। मगर पृथ्वी के कलयुगिया देवी-देवता रंग-बिरंगे वाहनों पर आरूढ़ हो, सैकड़ों की संख्या में जा पहुँचे, पिपरा ग्राम। पटना से 15-16 कि० मी० पुनपुन और पुनपुन से आठ कि० मी० कच्ची सड़क के धूलि-धूसरित कलेवर को सुशोभित करने आये राजनीतिक पार्टियों के नेता—प्रणेता, तथाकथित सामाजिक संस्थाओं के प्राणदाता और चतुर्थ राज्य के संवाददाता।

27 फरवरी को पहुँचे भारत सरकार के गृहमन्त्री ज्ञानी जैलसिंह, बिहार के राज्यपाल, मैं और मेरे साथी संसद सदस्य कंवर राम—एक हरिजन नेता।

विभिन्न मुखों से सुनी कथाएँ, विभिन्न पत्रों में विभिन्न कलमों से विभिन्न सुखियों में सुवासित हुईं।

किसी ने लिखा—एक षोडशी सुन्दरी के प्रेमपाश में आबद्ध कथा का यह भी एक अध्याय था। किसी ने इसे भूपति और भूमिहीन के बीच संघर्ष की संज्ञा दी। अहिंसक (या हिंसक ?) नेताओं ने इसे नक्सलवादियों की करतूत बतायी और कुछ ने इलाके के कई भूपतियों की हत्या को कारण बताया।

पिपरा, कल्याणचक, पारथू आदि ग्रामों से घिरा यह क्षेत्र उपजाऊ है—चना, खेसारी, गेहूँ, तेलहन का भंडार। बसे हुए धनी कुर्मी काश्तकारों के भाग्य का आगार। और इनके ललाट पर स्वर्णकण चंदन का लेप करनेवाले कोई ब्राह्मण पंडित के हाथ नहीं, वरन् इनके बीच—पिपरा-सम टोलों में, गुदड़ी-गेनरी में लिपटे-बसे इन हरिजनों के बहते स्वेदकण हैं। फलस्वरूप इन भूपतियों के अन्न की कोठारी भरी-पूरी रहती और इन टोलों का पेट बराबर खाली। संघर्ष स्वाभाविक। बरसते सावन-भादों में, दहकते चैत-वैशाख में, ठिठुरते पूस-माघ में सूरज उगने से डूबने तक काम करनेवाले समस्त हरिजन परिवारों को क्या मिलता है ? वही जो कहा लाला चमार और उसकी पत्नी पुतरिया ने, शिवनन्दन, और कुसिया को एक सेर—सिर्फ एक सेर खेसारी और पाँच सौ ग्राम सत्तू। दानी-दाता दस कट्ठा खेत भी जोतने के लिए कभी-कभार दे देते। अच्छी फसल हुई, तो गरीब (?) मालिक उसे काट कर अपने ही घर घुसा लेते उधार में। एक नहीं, अनेक मन ऐसे उधार उपज और मजदूरी—बाकी है इन कोठेवाले भूमिपतियों के पास। इनका अपराध कि ये न्यूनतम वेतन और सम्बन्धित कानून का नाम जबान पर लाये। जबान नहीं काटी गयी, यही क्या कम क्षमा है ? गूँगा बनाने का पाप क्यों करते ? स्वर्ग भेजने का ही पुण्य कमा लिया। वहाँ भी हरवाही और काश्तकारी करने पुराने मालिक बाबू भोला सिंह और देवनन्दन सिंह के ही पास तो भेज दिया। खाने-पीने की कमी नहीं होगी बेचारे हरिजनों को।

कल्याणचक ग्राम के भोला सिंह बहुत बड़े काश्तकार थे। पिपरा टोले के हरिजन इनकी जमीन पर ही काम करते थे। कुछ उस अपनी जमीन पर भी, जो भोला सिंह और उनके जैसे जोरावर लोगों ने हथिया लिया था। दिसंबर, 1979 के एक दिन भोला सिंह की किसी ने हत्या कर दी थी। इसके कुछ महीने पूर्व दूसरे भूमिपति श्री देवनन्दन सिंह भी मार दिये गये थे। सन्देह किया गया कि ये हत्याएँ पिपरा के चमारों ने ही नक्सलवादियों के बहकाने पर की थीं। तब से इन पर उनकी आँख थी। 25 फरवरी की कत्ल की रात इसी का परिणाम थी।

बेलची, पारसबिगहा, डोहिया, पिपरा—सभी ग्राम बिहार की राजधानी

पटना से एक सौ साठ कि० मी० के व्यास में अवस्थित हैं। पतित पावनी फल्गू एक ओर और पुनपुन नदी दूसरी ओर से इनको घेरे हुए हैं। उपजाऊ भूमि, मगर पानी के बहाव और जमाव के कारण वर्ष में छह महीने संचार और यातायात के साधनों से विच्छिन्न। भूमिपतियों की लूट-खसोट कर जमा करने की प्रवृत्ति और सर्वहारा मजदूरों की कम-से-कम प्राण बचा लेने की अकुलाहट की संघर्ष भूमि, जीवनयापन करने लायक मजदूरी की युद्धभूमि। इस संघर्ष में योगदान करने वाले विद्रोही नौजवान—पढ़े या अनपढ़ नक्सलवादी आभूषणों से विभूषित। पिछले कई वर्षों में लगभग दस मारे गये, इन भूमिपतियों की नींद हराम करने के अपराध में, या उन बीस भूमिपतियों के स्वर्गारोहण के कारण, जिनकी हत्या का अपराध इन पर लगाया गया।

पिपरा ने अब तक हुए सभी हत्याकांडों को पीछे छोड़ दिया है। बेलची की कहानी इसके सामने फीकी पड़ गयी है। पारसबियहा, डोहिया भी इनसे मात हैं। राष्ट्रपति शासन के दो काले धब्बे बेलची और पिपरा। एक कांग्रेस मंत्रिमंडल को भंग करने के बाद 1977 में और दूसरा जनता मंत्रिमंडल को हटाने के बाद 1980 में।

पिपरा ग्राम में उस दिन भी पुआल के ढेरों से धुआँ उठ रहा था। गाँव के चारों तरफ भैंस, बकरे-बकरी और गायों की लाशों पर गिद्ध मंडरा रहे थे। गाँव के बचे हुए बाल-वृद्ध के सहमे-मूक आँख और जुबान की भाषा पढ़नेवाले विद्वानों की भीड़ लगी थी। इस भीड़ से दूर हट एक कोने में उसी टोले के कुछ हरिजन युवकों की आँखों में अंगारे थे और जुबान पर "देखिये आये हैं। हमारा हाल पूछने! मगर चेहरे की मुस्कान तो देखो? पूछो इनसे हमारा शिकार करने के लिए इन भूपतियों को बंदूक और राइफल किसने दी?" मैंने उनसे मिलना चाहा, पर चाहकर भी नहीं मिल सका।

पुआल से उठते धुएँ और क्रोध की आग से उठते विभिन्न प्रश्न जगमगा रहे थे—क्या न्यूनतम मजदूरी माँगना पाप है? क्या इसके लिए संघर्ष करना अपराध है? क्या ऐसे संघर्ष का समर्थन देना नक्सलपंथी मार्ग को प्रशस्त करना है? क्या यह मार्ग निषिद्ध है? अगर सम्पत्ति जैसी बेजान चीज की रक्षा के लिए राइफल, बन्दूक देना कानून-सम्मत है, तो मनुष्य जैसी प्राणवान सम्पत्ति के लिए राइफल देना कानून-सम्मत क्यों नहीं? कौन फैसला करेगा इन प्रश्नों का? वही न, जिनके स्वार्थ-सिद्धि के लिए हरिजनों का अश्वमेध बार-बार रचाया जा रहा है? □

छह

जो सोचा वही कहा

[विजय किशोर मानव से भागवत झा आजाद की बातचीत]

आप पहले राजनीतिज्ञ हैं या साहित्यकार ?

यह सवाल मेरे बारे में सटीक नहीं है। मैं राजनीतिज्ञ और साहित्यकार दोनों ही हूँ। पहले क्या हूँ यह कहना मुश्किल है। राजनीति, धर्मनीति और साहित्यनीति अलग नहीं है। जनसाधारण के लिए तीनों का एक ही अर्थ है कि उसे न्याय मिले। जीवन में अहिंसा, कर्तव्य-परायणता और सत्य हो यही धर्म है और राजनीति या साहित्य यह करने की कोशिश न करे तो इसकी सार्थकता ही क्या। धर्म और राजनीति अलग नहीं है। प्रजा के धर्म की नीति का अनुसरण और उसकी रक्षा करे वही तो राजनीति है। इनका राजनीति द्वारा स्वार्थ-वश जब हनन हो और तब जो इसकी रक्षा करे वही साहित्य है।

मैंने अपने 45 वर्ष के लंबे अनुभव में सिद्धांत के साथ व्यवहार में भी इसे ही जीने की चेष्टा की है। अतः मेरे भीतर का साहित्यकार और राजनीतिज्ञ एक दूसरे के पूरक हैं।

राजनीति में रहकर कविता/ साहित्य को आप क्या वास्तव में निभा पा रहें हैं या सिर्फ अलंकरण के तौर पर जी रहे हैं ?

अब तक राजनीति में रहकर साहित्य की अभिव्यक्ति को रूप देने में कोई कठिनाई नहीं हुई। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के मंच पर, जनसभाओं में या लोकसभा के दीर्घकालीन जीवन में मैंने जो सोचा वही कहा और जो कहा वही लिखा। जब किसी ने अंकुश लगाने की कोशिश की तो खुला विद्रोह किया। इसलिए मैं इसे अलंकरण नहीं राजनीति का एक सशक्त सम्बल मानता हूँ। कभी लगता है राजनीति में आकर कविता सुन्दरी के पंख का रंग हल्का हो गया है पर विश्वास दिलाता हूँ कि यह टूटा नहीं है। कठिनाइयाँ निस्संदेह हैं पर यदि मूल्य दिया जाय तो सब कुछ सरल हो जाता है। ये पंक्तियाँ देखिए—

साकी और जहान छूट चुका
कवि-कविता का गान टूट चुका
छोड़ रुबाई मधुशाला को
राजनीति से प्राण जुट चुका
किन्तु पहुँचकर इस मंजिल पर
देखा रोता प्यार यहाँ है
सखा-बंधु औ पिता-पुत्र के
बीच खड़ी दीवार यहाँ है

लेकिन उक्त कठिनाइयों के बावजूद जो अपने मूल स्रोत (राजनीति और धर्मनीति) से नहीं कटता उसे कठिनाई नहीं होती। ऐसे कवि राजनीतिज्ञ की आत्मा उसे बराबर याद दिलाती है—

उद्घोषणा किन्तु सुनो हे बंधु
मैं स्वयं ही भाग्य का निर्माता रहा हूँ
न किसी का दास न दासत्व को स्वीकारता हूँ

अस्तु मुझे इसमें कोई कठिनाई नहीं है।

साहित्यिक यात्रा का श्रीगणेश कैसे हुआ और आप राजनीति की ओर कैसे आकर्षित हुए ?

सन् 1939 में भागलपुर शहर के कालेजिएट स्कूल की आठवीं कक्षा में नाम लिखाया। प्रधानाध्यापक थे स्व० श्रीमती महादेवी वर्मा के पिताजी जिन्होंने स्कालरशिप पाने वाले आठ छात्रों को दाखिला दिया था। इस समय तक मुझे स्व० रामधारी सिंह दिनकर की अधिकांश कविताएँ याद थीं। पर जब वार्षिक परीक्षा में उन आठों छात्रों में से सबसे कम 63 अंक हिन्दी में मिले तो दुख हुआ और इसकी प्रतिक्रिया तथा बालमन के सहज लोभ में मैंने साहित्य सेवा शुरू कर दी। इसके बाद मैंने कभी मुड़कर नहीं देखा। लेख, गद्य और पद्य सभी कुछ लिखा। भले ही यह सब ज्ञानमंडित नहीं था पर मेरी भूख जागृत करने के लिए यथेष्ट था।

सन् 1940 में पहली बार स्व० महादेवी जी के शुभाशीष का प्रसाद मिला।

लेकिन मैं जेल के सींखचों के अंदर बैठकर लिखी गई अपनी इस कविता को पहली कविता मानता हूँ जो 15 वर्ष की उम्र में लिखी गई। मैं मानता हूँ कि मेरी पहले की कविताएँ देश-काल को देख नहीं पाई थीं। आपने कुरेदा तो अपनी काल्पनिक प्रिया को पत्र रूप में लिखी उस कविता की कुछ पंक्तियाँ याद आ गईं—

भूल-भूल हे प्रिय भूल जा मैंने कारागार बसाया
एक नहीं उजड़ा घर तेरा लाखों घर का दीप बुझाया
अरी सुहागन मत रो मैंने भारत माँ का दूध सजाया
भूल-भूल री हमें भूल जा लाखों माँ ने लाल लुटाया

मेरी राजनीति और साहित्य दोनों की यात्रा साथ ही शुरू हुई। यात्रा जहाँ से शुरू हुई यह स्वर्णिम मील का पत्थर है 'भारत छोड़ो' का स्वतंत्रता संग्राम।

आपकी कोई पुस्तक/ पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं और उन्हें कैसी मान्यता मिली ? कोई पुरस्कार भी मिला है क्या ?

यह सौभाग्य मुझे नहीं मिला कि जो विचार समय-समय पर कविता, लेख और लोकसभा के भाषणों में सृजित और व्यक्त हुए उन्हें पुस्तकाकार रूप दे पाता। हाँ, धर्मयुग, कादम्बिनी और साप्ताहिक हिन्दुस्तान जैसी राष्ट्रीय पत्रिकाओं में जरूर इनका प्रकाशन होता रहा। अब जल्दी ही इन्हें प्रकाशित करने का विचार कर रहा हूँ। मेरी प्रबल इच्छा है कि मेरी कृतियों में पहला प्रकाशन उस महाकाव्य का हो जो मैं 'मृत्यु और जीवन' पर लिख रहा हूँ। इस संबंध में कह दूँ कि मैंने इसके चार परिच्छेद स्व० महादेवी जी को सुनाए थे। चौथे परिच्छेद को सुनते हुए न केवल उनकी आँखों से अश्रुधारा बहने लगी, बल्कि उन्होंने मुझे गले लगाते हुए कहा कि इसकी भूमिका मैं लिखूँगी। तब से वे मुझे बार-बार याद दिलाती रहीं कि इसे जल्दी पूरा करो नहीं तो ऊपर से बुलावा आने ही वाला है। और मैंने उनसे कहा कि जब मृत्यु आए तो भीष्म पितामह की तरह कहिएगा 'जरा रुको मुझे 'भागवत' की भूमिका लिखनी है।' वह चाहतीं तो मृत्यु जरूर ठहर जाती पर वे तो अपने घर के कुत्ते-बिल्ली और पेड़-पौधों तक को कष्ट नहीं देना चाहती थीं। मृत्यु को थोड़ा ठहरने का कष्ट कैसे देतीं। लेकिन निश्चय ही आज इस धरा-धाम को छोड़ वे इतर लोक में मृत्यु से कह रही होंगी—

मैं अनंत वैभव नगरी की हूँ निवासिनी
दृश्य छोड़ अदृश्य मिलन आई हूँ
जग के अनंत कूलों पर
खड़ी नित्य देखा करती
यह विश्व विश्वपति की ही छाया है
मैं उसी विश्व की

सत्य और ईश्वर की अमर प्रभा की
ज्योतिमान औ निर्मल दीपशिखा हूँ

आपका साहित्य राजनीति से प्रभावित हुआ है ? यदि हाँ तो क्या वह पार्टी की नीतियों से जुड़ा है ?

वह साहित्य नहीं जो देश-काल के परिवेश को अंकित नहीं करता या यों कहूँ कि जीवन के शाश्वत और सामयिक मूल्यों का चित्रण साहित्य में होना चाहिए। मैंने पूर्व प्रश्न के उत्तर में सावित्री का मृत्यु से जो परिसंवाद उद्धृत किया वह शाश्वत सृजन है। महादेवी जी भी मृत्यु से यही कह रही होंगी। वह हर मनुष्य जो दुनिया को पड़ाव मानकर जीता है, इन्हीं शाश्वत मूल्यों की पूजा-अर्चना करता है। उदाहरणार्थ—

कामधेनु, उर्वशी औ कल्पतरु की
धरणि के सम्मानशाली कल्पना करते नहीं हैं
ये लगाते बाग, ये खिलाते फूल
सुरभि से दंशित भ्रमर
घूमते हैं, चूमते हैं
प्राण देकर विश्व की नश्वर नदी में
नाव खेते हैं उस पार जाने को
जहाँ से तुम (मृत्यु) पधारी हो

लेकिन इन मूल्यों के निर्वहन के साथ मनुष्य की सामयिक आवश्यकताएँ भी हैं। ये आवश्यकताएँ हैं तन-अर्पण यज्ञ की समाप्ति के पूर्व इस तन को धारण करने के लिए आवश्यक प्रयास करने की। और इस प्रयास के बदले उसे चाहिए—रोटी, कपड़ा, मकान, स्वास्थ्य और शिक्षा। एक शब्द में कहूँ तो यही समाजवाद है। देश की कोटि-कोटि जनता की व्यथा और आकांक्षा है। इसी के लिए मेरे जैसे कांग्रेस-जन दल के अंतर्गत युद्ध का प्रयास कर रहे हैं। मेरे साहित्य पर इस प्रयास का पूरा असर है। जो साहित्य इन सामयिक मूल्यों की स्थापना नहीं करता वह जनमानस से दूर अलग-थलग पड़ जाएगा। स्वान्तःसुखाय से दूर हटकर जनसाधारण की भूख को चित्रित करने वाला साहित्य ही उसकी भूख मिटाकर स्वयं को गौरवान्वित कर सकता है। इसी के तहत निम्नांकित पंक्तियों में राजनीति का मेरी कविता पर प्रभाव परिलक्षित है—

जब तक न मिटेगी भूख और नग्नता ढकी जाएगी
जब तक न देश की कोटि-कोटि जनता रोटी पाएगी
जब तक न देश के नौनिहाल समुचित शिक्षा पाएँगे
जब तक न ग्राम के चौपालों पर कृषक बंधु गाएँगे
रामराज्य आ गया बंधु, अब बड़ा हर्ष है—बड़ा गर्व है।

तब तक कांग्रेस का समाजवाद और इसके सिद्धांत अधूरे रहेंगे। जिस परिवेश में से एक छोटे गाँव के गरीब परिवार से निकलकर मैंने दिल्ली तक की यात्रा की उसके खट्टे-मीठे और तीखे अनुभवों को अभिव्यक्ति मिली कांग्रेस दल में। जिसके नेता पंडित नेहरू ने देश की जनता को समाजवाद की मंजिल दी और इंदिरा जी ने 20 सूत्री कार्यक्रम का माध्यम। मुझे तब और इन सिद्धांतों के प्रतिपादन या इनकी कमियों को उजागर करने में कोई कठिनाई महसूस नहीं हुई। इसलिए मेरा साहित्य राजनीति पर हावी होकर पुकारता रहा है कि इन महलों पर और मंजिलें तब तक न उठने दी जाएँ जब तक बगल की झोंपड़ियाँ इनके बराबर न हो जाएँ। क्योंकि इन झोंपड़ियों ने ही—

खून अपना दे इन्होंने
माँग में इन महलों के सिन्दूर डाला है
और जोड़े हाथ जो युगों से
भास में गाती रही है
हर कुँआरे भोर में जो ओस बन
हर दूब पर रोती रही है
हर जवानी रात में नथिया पहन
उनको रिझाने
बन संवरकर नाचती, गाती रही है।

अस्तु आज के युग का या परिवेश का दर्पण यदि साहित्य न हो तो उसका अर्थ ही क्या? अतः मैं स्वीकारता हूँ कि मेरी रचनाओं पर दल के सिद्धांतों का प्रभाव है।

राजनीति में आए दिन होने वाली उठापटक क्या कभी आपके साहित्यकार को विचलित करती है?

प्रश्न के विपरीत मेरे लिए स्थिति उल्टी है। उठापटक की राजनीति से त्रस्त मेरे मन को साहित्य और विशेषतः इसकी कविता विधा में शरण मिली है। जब कभी मैं राजनीति का अप्रिय रूप देखता हूँ तो मुझे स्व० महादेवी, बच्चन, दिनकर की और मेरी अपनी कविताएँ सान्त्वना देती हैं और इसके विरोध में स्वर मुखर करने का आह्वान करती हैं। राजनीति से हटकर जीवन की वक्र राहों के भटकाव में भी दिशा-संकेत मुझे साहित्य से ही मिलता है। राजनीति की ऐसी ही उठा-पटक से त्रस्त मेरे प्राणों ने पुकारा था और मैंने एक कविता लिखी थी।

आप राजनीतिज्ञ अपने आपको कहलाना अधिक पसंद करते हैं या साहित्यकार? क्या कभी राजनीति छोड़कर साहित्य के प्रति समर्पित होने की इच्छा आप में जागती है?

जैसा मैंने पूर्व प्रश्नों के उत्तर में कहा है कि मेरा राजनीतिक कर्म और

साहित्यिक धर्म एक-दूसरे के पूरक हैं और मैं इन्हें सिर्फ भावनात्मक या सिद्धांत के स्तर पर ही नहीं वल्कि जनहित के स्तर पर व्यावहारिक रूप में जीता हूँ, अतः कभी देर तक एक को छोड़े रहकर दूसरे को पकड़ने की इच्छा वलवती नहीं होती। लेकिन जिन उठापटकों की बात आपने पहले की है उनमें राजनीति के दंश से पीड़ित मन कभी-कभी पुकार उठता है—

मेरे न्याय के प्रबल समर्थक
यहाँ सत्य की दो कुर्बानी।
यह मेरी है राय भूलकर
मत करना ऐसी नादानी॥
ढूँढ़ो कहीं कैदखाने में
विष-प्याला सुकरात पी रहा।
राजनीति के राजदंड से
छिपकर कहीं ईमान जी रहा॥

और इसके बाद ही इच्छा होती है उस विश्वविद्यालय के ज्ञान मंदिर में लौट जाने की जहाँ से मैं आया हूँ।

साहित्य देवता के मंदिर की सुधा छोड़ विष पीने आया
हे राजनीति तेरी महिमा का यशोगान गाने आया
पर पाँसे के एक दाँव पर हुआ विवश मैं मात खा रहा
जिसे पूजने चला हृदय से वही देवता दनुज बन रहा।

मगर यह स्थिति अधिक देर तक नहीं रहती और मेरे गाँव की यह सौंधी मिट्टी मुझे पुकारती है, परिवेश मुझे धिक्कारता है और कर्तव्य की याद दिलाता है तो विद्रोही मन चीख उठता है—

कोटि-कोटि आँखों का सपना हम साकार करेंगे
कोटि-कोटि अरमानों में हम नूतन रंग भरेंगे
देश माँगता त्यागदान देंगे हम नई जवानी
धन्य-धन्य संसार कह उठे नये हिन्द का पानी
प्रगति पंथ के हम राही हैं नहीं सब्र है
चला वर्ष है आओ खुशियाँ हर्ष मनाओ

साहित्यिक जीवन का कोई रोचक या प्रेरक प्रसंग ?

मुझे साहित्य-सृजन की प्रेरणा देने वाले तीन महाकवियों में पहले थे स्व० दिनकर जी। लोकसभा के मेरे वाद-विवाद से वे बड़े प्रसन्न रहे थे। एक बार सन् 1957 के चुनाव के पूर्व जब मैं उनसे सहायता की प्रार्थना करने गया तो उन्होंने कागज के टुकड़े पर लिख दिया—

'भागवत छोटा-मोटा भगवान है। यह लड़ाकू है और गरीबों के न्याय के लिए

लड़ता है।'

कुछ समय तक तो मुझे संकोच हुआ, पर अंत में मैंने उनकी कविता को दो पंक्तियों के साथ इस वाक्य को पर्चे में छपवाकार क्षेत्र की हजारों जनता में बँटवा दिया। मूर्धन्य कवि से ऐसा प्रशस्ति पत्र पाकर मैं धन्य-धन्य हुआ और इस बात ने मुझे न केवल प्रभावित किया बल्कि साहित्य की ओर और अधिक मोड़ दिया।

एक बार भागलपुर में अखिल वंग साहित्य सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन हुआ। इसी अवसर पर शरत्-शताब्दी मनाई गई। आयोजन में आशापूर्णा देवी जैसी उपन्यास लेखिका सहित देश भर से 800 लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार शामिल हुए। मैंने आयोजन समिति के अध्यक्ष होने के नाते शरतचंद्र पर एक लेख पढ़ा जो धर्मयुग में छपा। उसे पढ़कर महादेवी जी ने मुझे लिखा—

'अगर तुम राजनीति में नहीं जाते तो साहित्य को बहुत कुछ मिलता।'□

सात

समाजवादी समाज की प्रथम परिकल्पना

बात 1954 की है। लोकसभा के शीतकालीन सत्र में आर्थिक नीति पर बहस चल रही थी। चिंतामणि देशमुख वित्तमंत्री थे। मैंने एक संशोधन पेश किया था कि 'भारत में एक समाजवादी समाज की स्थापना होनी चाहिए।'

मैंने अपना संशोधन अपने तर्क के साथ पेश किया। पूज्य स्व० जवाहरलाल नेहरू ने डा० देशमुख से पूछा: "क्या आपको कोई आपत्ति है इस संशोधन के स्वीकार करने में?" संशोधन स्वीकृत हुआ और 1954 में कांग्रेस ने अवाड़ी अधिवेशन में समाजवादी समाज की स्थापना का व्रत लिया।

देश का नेतृत्व जन-आकांक्षाओं की गहराई को समझ रहा था। आजाद हिंदुस्तान की पहली लोकसभा थी। स्वतंत्रता संग्राम के सभी प्रतिष्ठित धनुर्धर संसद में विराजमान थे। लक्ष्य था भारत की गरीबी और आर्थिक विपन्नता का भेदन। युवा सदस्य आज के अनुपात में कम थे मगर जो थे वे थे मुखर। पंडित जी की उन्हें शह मिलती थी। विरोधी दल नगण्य था। मगर कांग्रेस के ही कुछ

नौजवान सदस्य जैसे के० पी० त्रिपाठी, आज के राष्ट्रपति श्री वेंकटरमन, मैं तथा कुछ और सदस्य विरोधी पक्ष की भूमिका अदा करते थे।

देश को जल्द से जल्द जीवन की पाँच प्रमुख आवश्यकताओं का लक्ष्य प्राप्त करना था—रोटी, कपड़ा, मकान, स्वास्थ्य और शिक्षा। सुदूर ग्रामों को यातायात के साधनों से जोड़ना था। मगर इन सभी जरूरतों के वीच परमावश्यक थी भारतीय नवजात गणतंत्र की सुरक्षा और सुदृढ़ता। इस महान लक्ष्य में समयानुसार नेतृत्व दिया जवाहरलाल, मौलाना आजाद और सरदार पटेल जैसे अनुकरणीय नेताओं ने। अनुभव के अंगारों में तपी पीढ़ी ने अपने नेतृत्व में चुना था उन महापुरुषों को।

जवाहरलाल ने देश को मंजिल दी—गणतंत्र, आर्थिक स्वावलंवन, धर्मनिरपेक्षता और गुटविहीन विदेशनीति की चालीस साल पूर्व देश जिस दौर से गुजर रहा था अनूठा था। वलिदानों की होली से सद्यःस्नात नयी पीढ़ी भूख की ज्वाला, ज्ञान की पिपासा, तन-मन की कुंठा से तत्काल मुक्ति के लिए दूसरे लोमहर्षक युद्ध के लिए मचल रही थी और दूसरी ओर नये गणतंत्र के खतरों से परिचित था नेहरू का नेतृत्व। सँभल-सँभल कर, फूंक-फूंक कर कदम बढ़ाने की जरूरत थी।

परिवर्तन चतुर्दिक जोर-शोर से हो रहा था। लक्ष्य स्पष्ट हो गया था। विभिन्न विरोधाभासों या यों कहें कठिनाइयों के वीच उखड़े-वँटे हिंदुस्तान को नया रूप दे रहे थे जवाहरलाल और उनके सहयोगी। उस समय का नेतृत्व भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की देन था; शहीदों के खून से अभिषिक्त भारत-भूमि की उपज, खून से लथपथ विपन्नता की कीचड़ में उगे कमल।

सोलह साल वीत गये और एक-एक कर वे चले गये नील गगन में पंथ बनाकर, इतिहास लिखकर; गाथाएँ गाकर-सुनाकर और लक्ष्य निर्धारित कर चले गये वे महायात्री—

महापंथ पर तन अर्पण की कथा अनोखी
जाते राही राह अमर कर
कुंडल-कवच सदा जग चर्चित
काल धर्म को नया अर्थ दे
कालजयी चल दिये मार्ग पर
नये गेह को कितने हर्षित

मगर मंजिल को जाने वाली राहें कंटकाकीर्ण थीं और कुछ अस्पष्ट भी।

अनुभव के अंगारों से ओतप्रोत नेता अनेक थे महापुरुषों के महाप्रयाण के वाद भी, लेकिन गूनर मामहवोल की चेतावनी बराबर याद आती थी कि भारत को अपने लक्ष्य पर पहुँचने के लिए दौड़ना पड़ेगा, भले ही गिर पड़े रास्ते में।

लहूलुहान हो जाय उसका पैर, बहने लगे खून शिराओं को फोड़कर, दर्द का दंश असह्य क्यों न जान पड़े···। तभी तो पुराने अनुभवी नेताओं को दरकिनार कर देश ने चुना श्रीमती इंदिरा गांधी को। आर्थिक असमानता पर हथौड़े की चोट दहकने लगी। आर्थिक दृष्टि से पिछड़ों को आशा की नयी किरण दिखी। संपत्ति जनता की मगर भोग मुट्ठी भर के लिए—आखिर क्यों ? ऐसे प्रश्नों ने मूर्त रूप लेना शुरू किया। धरती-आकाश-पाताल प्रश्नों से पूरित हो गये। आवाजें खेत-खलिहानों, मकान-दुकानों और कल-कारखानों से आने अगीं—

नहीं मानेंगे वह कानून
जो मुझसे गरीबी का पट्टा लिखाता है
मिटाकर झोपड़ी मेरी
जो महलों को रिझाता है
खा-खाकर मरें वे
मौलिक अधिकार उनका है
बिना खाये मरें हम
यह अधिकार मेरा है।

मौलिक अधिकार और निदेशक तत्त्व के संघर्ष में संविधान को नया कलेवर मिला। इंदिरा जी के नेतृत्व में युवा तुर्कों ने परंपरा और तथाकथित प्रतिष्ठावादी सिंडिकेटी नेताओं के गढ़ पर हमला किया। बंगलूर का ग्लास-हाउस मूक गवाह है इंदिरा जी और सिंडिकेटी नेताओं के लोमहर्षक युद्ध का।

नयी रोशनी मिली देश को। जवाहरलाल ने मंजिल दी और इंदिरा गांधी ने मंजिल पर जाने की राह।

योजनाएँ जनजीवन के नजदीक आने लगीं। मोटे-मोटे पोथों से निकलकर उन्होंने भारत के गरीबों को 20 सूत्रों का 'मेगना कारटा' दिया, मगर दिल्ली से देहात की लंबी यात्रा। देश की राजधानी से देहात की राजधानी 'प्रखंड' तक पहुँचने में पहचाने चेहरे अनजाने बन गये।

इंदिरा जी के बलिदान के बाद सूदूर ग्राम की विधवा बुढ़िया ने कहा, "आबे गरीबो केरो कोय न रहले।" (अब गरीब का कोई न रहा।) उसकी एकमात्र सम्पत्ति अलमुनियम का कटोरा-भर था। कितना उसे मिला उस कटोरे में पता नहीं, मगर उसे विश्वास मिल गया था कि इंदिराजी गरीबों की मसीहा हैं।

निराशा के इस वातावरण में फिर खड़ा हो गया देश उस चौराहे पर जहाँ गमगीनी, अनिश्चितता हटाये गये न्यस्त स्वार्थों की चुनौती और देश की अखंडता पर खतरा स्पष्ट दिखाई पड़ने लगा।

एक तरफ पड़ा था पार्थिव शरीर भारत की पुत्री इंदिरा जी का और दूसरी ओर भारतीय गणतंत्र जूझ रहा था अपनी रक्षा के लिए नये सिपहसालार की खोज

में। मतदान की शलाकाओं ने अपना चमत्कार दिखाया। कुछ ही घंटों में बिना किसी दलगत राजनीति, विरोध या अन्तर्कलह के भारतीय गणतंत्र ने अपना नया नेता चुन लिया। आश्चर्यचकित रहा पूरा संसार। इंदिरा जी का बलिदान महिमामंडित हो गया।

और पुनः प्रकृति के सर्वमान्य सिद्धांत के तहत भारत देश की पीढ़ी ने आगे बढ़कर अपना नेता चुन लिया। आजादी प्राप्त किये चालीस साल हो गये। दो-तिहाई आवादी को, जो नयी है, जवान है, प्राणवान है। प्राचीन परंपराओं, शूरवीरता और आजादी की गाथाएं सुनने को कम मिली हैं। उसने गीत सुने हैं खेत-खलिहानों के। सड़क और सिंचाई के। उसने नित नये वनते स्कूल और कालेज के परिसर देखे हैं और कभी-कभी भ्रमित होकर क्लास रूम छोड़कर सड़क और फुटपाथों के आलेख पढ़े हैं। फिर भी उसने प्रगति और विकास के गीत, तथ्य और आलेख को ही अधिक देखा और सुना है। अस्तु इसने अपनी पीढ़ी से ही ऐसा नेता चुना जो आज के जनजीवन का सच्चा प्रतिनिधि हो।

और इस प्रतिनिधि ने उसे निराश नहीं किया। राजनैतिक नेतृत्व की नयी पीढ़ी का यह रहनुमा जूझा ही है पिछले चार वर्षों से देश की कठिनाइयों से—कठिनाइयाँ जो आर्थिक प्रगति को त्वरित गति से बढ़ने नहीं देतीं—प्रशासनिक और वित्तीय दोनों। उसे मालूम है कि समय कम है। आशाएँ-आकांक्षाएँ गगनचुंवी। संभावनाएँ-सीमाएँ अस्पष्ट। आसानियाँ कम जोखिमें अधिक।

उपलब्ध साधन सीमित। विकास के तेवर अपरिचित। नासिक का प्रिंटिंग प्रेस नोट नहीं छाप सकता। वन जायेंगी सड़कें और स्कूल, अस्पताल और सिंचाई योजनाएँ। मगर सस्ते गल्ले की दुकानें मजाक बनकर रह जायेंगी क्योंकि चावल-चीनी के दाम 15-20 रुपये हो जायेंगे। मुद्रास्फीति की सीमा तो है ही। पश्चिम की नयी समृद्धि गेहूँ-गुड़ (चीनी) उधार देने को व्याकुल है : बच्चा पैदा करने वाले जनतंत्र को गेहूँ पैदा करने वाला ललचा रहा है। मगर कर्ज खाने वाले को नयी आर्थिक गुलामी का भी तो एहसास होना चाहिए। अस्तु बच गयी सिर्फ आत्म-निर्भरता, अपने साधन। इसी के सहारे अपनी योजनाओं का 94-95 प्रतिशत अपनी ही झोंपड़ियों से निकल रहा है। महलों से और अधिक सहयोग की अपेक्षा है। भूमि वितरण, संपत्ति दान के नारे गूंज रहे हैं—

जब तक न मिटेगी भूख और नग्नता ढकी जायेगी
जब तक न देश की कोटि-कोटि जनता रोटी पायेगी
जब तक न देश के नौनिहाल समुचित शिक्षा पायेंगे
जब तक न ग्राम की चौपालों पर कृषक बंधु गायेंगे—

रामराज्य आ गया बंधु
अब बड़ा हर्ष है, बड़ा गर्व है—

तब तक यह युवा नेतृत्व चलता रहेगा। चलते रहना पड़ेगा उसे। दौड़ना होगा। गिर-गिर कर उठना होगा और उठ-उठ कर चलना, यही है मूलमंत्र।

और देश का सौभाग्य है कि देश की नयी पीढ़ी के इस नये नेतृत्व को इसका अहसास है।

आर्थिक प्रगति के लिए 20 सूत्री कार्यक्रम के अंतिम सूत्र की व्याख्या और उस पर बल, नये नेतृत्व की विशेषता है। योजनाओं के प्रावधान या वित्तीय लक्ष्यों की पूर्ति मात्र से न जमीन पर संपत्ति बनती और न इसके वासी लाभान्वित होते। अस्तु भौतिक लक्ष्य की प्राप्ति नये नेतृत्व की विशेषता है। सिर्फ उत्पादन ही यथेष्ट नहीं, उसका समुचित वितरण लक्ष्य है। समाजवाद के इस मूल सूत्र के परि-पालन पर जोर नये नेतृत्व की विशेषता है।

और उपर्युक्त उद्देश्य को पाने के लिए अखंड भारत, उसके प्राण गणतंत्र की रक्षा और गणतंत्र की रक्षा के लिए विश्व का शांतिपूर्ण परिवेश—एक दूसरे से चोली-दामन की तरह जुड़े हैं। इससे सिर्फ अवगत ही नहीं है नया नेतृत्व, बल्कि इसके लिए क्रियाशील, दृढ़संकल्पी और वीरव्रती है।

पंजाब में कंधा है उग्रवादी का। बंदूक है पाकिस्तान की और पैसा एक विदेशी का। नेतृत्व संभालने के तुरंत बाद से जो प्रयत्न किये हैं उन्होंने उसे कुछ कुंठाग्रसित विरोधी दलों को छोड़ किसने नहीं सराहा है। समाधान अब तक नहीं मिला, मगर इस कारण सत्यनिष्ठ प्रयास को कैसे झुठलाया जा सकता है? ऐसे साहसिक कदम की सराहना कौन नहीं करेगा?

'महाभारत' और 'रामायण' युद्ध के विपरीत आज की लड़ाइयाँ हस्तिनापुर या लंका से दूर किसी आतलांतिक या उत्तरी ध्रुव के कूलों पर लड़ी जा रही हैं। विश्व के हर व्यक्ति को 'उस पार' पहुँचाने के लिए संसार के कुछ राष्ट्रों ने प्रति व्यक्ति लगभग 88 टन बारूद का प्रबंध कर दिया है। किसी आकस्मिक ही सही, आणविक युद्ध में बिना एक भी बम गिरे भारत, साउदी अरब जैसे देश आणविक बादल के कुहासे से चिरनिद्रा में सो जायेंगे। आणविक शीत महीनों में कौन बचेगा कथा कहने को। अस्तु नया नेतृत्व अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सतर प्रयत्नशील है आणविक निरस्त्रीकरण के लिए। इसके बिना देश की प्रगति विकास के सभी प्रयत्न और प्राप्त सफलता अर्थहीन हो जायेंगी किसी दिन। रह न जाये सिर्फ एक उबलता हुआ लावा, गौतम, कपिल, कणाद द्वारा स्थापित आर्यावर्त की सभ्यता मिट न जाये। जमदग्नि के आश्रम के गायों की संतति एक दिन मौन न हो जाये। सहस्रार्जुन से भरत-भूमि को निरापद करने वाले भगवान परशुराम के चरण चिह्न लुप्त न हो जायें—इसलिए नये नेतृत्व को अपने प्रयासों को और जोरदार और धारदार बनाना होगा। राजनैतिक नेतृत्व की नयी पीढ़ी के प्रतिनिधि राजीव गांधी को पिछले चार दशकों की राजनीति के अमृत और विष के

सम्मिश्रित पेय को भारतीय कंठ के लिए प्रिय और ग्राह्य बनाना ही होगा।

सार्वजनिक जीवन में प्रतिलक्षित नये युग के युवा की आशाओं-आकांक्षाओं को उनकी संभावनाओं और सीमाओं तक पहुँचाना ही होगा। आसानियों का स्वागत कर और जोखिमों को चूमकर नयी पीढ़ी के युवा नेता राजीव गांधी यह कर सकते हैं, यह मैं अधिकारपूर्वक कह सकता हूँ और इसकी संपुष्टि होती है बीते कल के अनुभवों से। आज के चल रहे प्रयास से और आने वाले कल की असीमित सम्भावनाओं से। □

आठ

राजनेता : अधिकारी परस्परता

कहानी पुरानी है मगर बहुत दिनों से कही जाती रही है कि भारतीय नौकरशाही इस्पात का बना हुआ ढाँचा है, जिसे कैसा भी झोंका विचलित नहीं कर सकता। कठिन-से-कठिन परिस्थितियों में भी नौकरशाही सरकारी तंत्र को चलाने में समर्थ होती रही है। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद सत्ता का हस्तांतरण इतनी सरलता से होने में भारतीय नौकरशाही का बहुत बड़ा योगदान माना गया है। नौकरशाही का एक बहुत बड़ा गुण है उसकी गुमनामता और वह बिना किसी भय या पक्षपात या इस तरह की और भावनाओं से प्रेरित हुए काम करती है। इसीलिए, स्वाधीनता के पूर्व वह जिस निष्ठा के साथ ब्रिटिश राज्य की सरकार का संचालन करती थी, स्वाधीनता प्राप्ति के बाद उसी निष्ठा के साथ जनता की चुनी हुई सरकार के संचालन में सक्षम बनी। अभी तक नौकरशाही के ये लक्षण दिखाई देते हैं। नौकरशाही का सक्रिय सहयोग सरकार चलाने में चाहिए ही। परन्तु नौकरशाही का अपना एक ढंग होता है और इसीलिए जनता की आशाओं एवं आकांक्षाओं को पूरी बारीकी से

पहचानने में शायद सक्षम नहीं होती है। इसीलिए नीति निर्धारण और प्रशासन के महत्त्वपूर्ण मामलों में आवश्यक निर्देश देना राजनीतिक कार्यपालिका की ही जिम्मेदारी होती है और राजनीतिक कार्यपालिका द्वारा निर्धारित मापदण्ड के मुताविक नौकरशाही को उसे कार्यान्वित कर फल सामने लाना पड़ता है। अस्तु, दोनों के बीच एक वहुत ही महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है और जव तक ये सम्बन्ध मीठे रहेंगे, जब तक राजनीतिक कार्यपालिका और नौकरशाही एक दूसरे के दायरे को पसन्द करेंगे तथा एक-दूसरे के साथ मिल-जुल कर काम करने की भावना रखेंगे और तब तक किसी प्रकार की कठिनाई, किसी प्रकार की उलझन का सवाल ही नहीं उठता है। मगर वहते समय और वदलते परिवेश के कारण सम्वन्ध में विसंगतियाँ भी आ गयी हैं।

राजनीतिक कार्यपालिका और नौकरशाही के बीच का तनाव मुख्यतः एक-दूसरे की भूमिका को ठीक से नहीं समझने या मानने से ही पैदा होता है। राजनीतिक कार्यपालिका नीति-निर्धारण करे एवं व्यापक-मार्गदर्शन दे, महत्त्वपूर्ण निर्णय ले और निर्णयों का कार्यान्वयन मार्गदर्शन के तहत नौकरशाही पर छोड़ दे—यह दृष्टिकोण साधारणतः प्रतिपादित किया जाता रहा है। राजनीतिक कार्यपालिका कार्यान्वयन के हर मोड़ पर नोंक-झोंक न करे—यह अवधारणा वहुत दिनों से चली आ रही है। कहा जाता रहा है कि नौकरशाही की मर्जी के मुताबिक ही कार्यान्वयन हो। दूसरी ओर प्रश्न उठते हैं—क्या आज के वदलते परिवेश में यह उचित है? क्या इससे उद्देश्यों की पूर्ति हो रही है? क्या समय के परिधान में इसका समाहित होना संभव और उचित है?

राजनीतिक कार्यपालिका द्वारा लिये गये निर्णयों में नौकरशाही की भी अहम भूमिका है। वह राजनीतिक कार्यपालिका के समक्ष सारे तथ्यों एवं सूचनाओं को रखे और अपनी स्पष्ट सलाह दे। इन सबको राजनीतिक कार्यपालिका देखे-सुने और सुनने के वाद अपना निर्णय ले। अगर निर्णय अनुशंसा या सलाह के विपरीत होता है तो भी नौकरशाही को उसे सहर्ष स्वीकारना चाहिए, क्योंकि उसका दायित्व तभी पूरा हो जाता है जव उसने अपने हिसाब से सही मशविरा एवं सही अनुशंसा दी और राजनीतिक कार्यपालिका ने विभिन्न परिस्थितियों पर विचार कर निर्णय लिया। नौकरशाही को पूर्ण विश्वास के साथ उन निर्णयों को कार्यान्वित करना चाहिए। विवाद तभी उत्पन्न होता है जब राजनीतिक कार्यपालिका किसी कारण से, मुख्यतः जनता की भावनाओं और आकांक्षाओं को ध्यान में रखकर नौकरशाही की अनुशंसा को कुछ अवसरों पर नहीं मानती। ऐसे समय कभी-कभी नौकरशाही बौखला उठती है और निर्णयों के कार्यान्वयन में बाधा उत्पन्न होने की आशंका उत्पन्न हो जाती है। वह भूल जाती है कि निर्णयों के उत्तम फलाफल में उसे यश और गौरव का बड़ा अंग मिलता है। मगर गलत होने

का दंश राजनेताओं को स्वयं भोगना पड़ता है। अब तक ऐसा नहीं देखा गया कि मंत्री के पदत्याग से दुख और उत्तरदायित्व से कातर किसी नौकरशाह ने भी अपना इस्तीफा दिया हो। अस्तु, यह बिल्कुल स्पष्ट है कि राजनीतिक कार्यपालिका का फैसला मान्य होना चाहिए और नौकरशाही को उसे अवश्य ही कार्यान्वित कराना चाहिए मगर यह भी उतना ही आवश्यक है कि राजनीतिक कार्यपालिका नौकरशाही को साथ लेकर ही चले। मतभेद के अवसर कम और विरल हों।

ऐसे अवसर भी आते हैं जब नौकरशाही को दिये गये पदभार या उत्तरदायित्व से उनका मन नहीं भरता। वह इसे प्रणाली का एक स्वाभाविक रूप मानकर स्वीकार नहीं करती। यहाँ भी नौकरशाही को सोचना चाहिए कि जिसे सरकार का सारा भार जनता ने दिया है उसे कुछ रंगों में, कुछ रूपों में सरकार चलाने की छूट होनी चाहिए। नौकरशाही के सामने तो समय की कमी नहीं है, किन्तु जनता द्वारा चुने हुए राजनीतिक कार्यपालकों को तो अगले चुनाव तक ही समय रहता है, जिसके भीतर उन्हें जनता की आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए अथक प्रयास करना ही होगा। जो राजनीतिक कार्यपालिका सर्वदा सजग नहीं रहा करती और तीव्र गति से कार्य करवाने की अधीरता नहीं दिखाती, उसे पाँच वर्ष के उपरान्त नये निर्वाचन के महायज्ञ का प्रसाद फिर नहीं मिलता। नौकरशाही को इस बात को समझना चाहिए और राजनीतिक कार्यपालिका के अधीर होने से कोई शिकायत नहीं होनी चाहिए। मिसाल के तौर पर कौन-सी सड़क कहाँ बननी चाहिए या कहाँ अस्पताल खुलने चाहिए। इस तरह का निर्णय राजनीतिक कार्यपालिका को ही लेने दे। बजट की प्राथमिकता, गुणवत्ता और संख्या का समन्वय कालावधि, प्राक्कलन, वित्तीय लक्ष्य और इससे निर्मित मन-प्राण-नयन को सुहावनी लगने वाली सम्पत्ति का जमीन पर अवतरण—इन सभी विधाओं में नौकरशाही अनुगामिनी रहे, जैसी चोली के साथ दामन। सफलता की सुहासिनी मुस्करा उठेगी। मनप्राण को पुलकित कर देगी। दोनों ही सफलता के बीच से हर्षातिरेक में नृत्य कर उठेंगे।

समस्याओं की विविधता, साधनों के सतत अभाव और कार्यान्वयन की कमी से मत-मतांतर के शंकाग्रस्त बिरवे पनपते, बढ़ते हैं और उनके विषफल दो सहयोगियों को अलग-थलग करने का प्रयास करते हैं, जिसकी सफलता का परिणाम प्रतिकूल होता है।

आवश्यकता है आर्केस्ट्रा के निदेशक, फण-फणों के वादक-उद्घोषक समेकित ध्वनि को पहचानें, ताल-सुरों में समन्वय स्थापित करने का सतत प्रयास करें, ताकि जन-साधारण जिसके लिए वे हैं, वाह-वाह कर उठे। निर्माण का यज्ञ सफल हो। यज्ञ-कुंड की शिखाओं से प्रगति का पथ प्रशस्त हो जाये और योजना के प्रसाद सब को संतुष्टि दें। तभी राजनीतिज्ञों और नौकरशाही के सम्बन्ध सार्थक होंगे। ०००

